तीर्थंकर पद प्राप्ति के उपाय

— रतनलाल डोशी

संस्कृति-रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का ४५ वाँ रत्न

तीर्थंकर-पद प्राप्ति के उपाय

रतनलाल डोशी

द्रव्य सहायक—

स्व. श्रीमान् सेठ प्यारचंदजी साहब लोढ़ा की पुण्य-स्मृति में, उनके सुपुत्र श्रीमान् सेठ नाथूलालजी सा. लोढ़ा ।

फर्म— श्री खूबचन्दजी प्यारचन्दजी

सैलाना (म. प्र.)

प्रकाशक—

अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षक संघ

सैलाना (म. प्र.)

प्राप्ति स्थान

१—श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ
सैलाना (मध्य-प्रदेश)

२— ,, ए. एदुन बिल्डिंग, पहली धोबीतलाब लेन
बम्बई २

३— ,, सराफा बाजार, जोधपुर (राजस्थान)

सादर भेंट

प्रथमावृत्ति	वीर सम्वत् २४९८
१५००	विक्रम सम्वत् २०२९
चैत्र शु. ५	मार्च सन् १९७२

मुद्रक— श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सैलाना (म. प्र.)

प्रासंगिक निवेदन

जैनधर्मानुसार समस्त प्राणी कर्म के आधीन हो कर संसार में सुख-दुःख भोगते हुए, परिभ्रमण कर रहे हैं। जीव पूर्वोपार्जित कर्म का फल भोगते हुए नवीन कर्मों का बन्ध करते हैं। अनादि से चली आती हुई भव-परम्परा आगे भी चलती रहती है और जीव अपने किये हुए कर्मों के अनुसार शुभाशुभ फल भोगता रहता है।

स्थूल रूप से पाप-प्रकृतियाँ ८२ और पुण्य-प्रकृतियाँ ४२ मानी गई है। बयालीस पुण्य-प्रकृतियों में से ३९ प्रकृतियाँ तो मिथ्यात्व अवस्था में भी बंधती है और १ आहारक शरीर और २ आहारक अंगोपांग—ये दो प्रकृतियाँ अप्रमत्त-संयती के ही बंधती है। किंतु इन दो प्रकृति के बन्धक के लिए यह निश्चित् नहीं कि वह जीव चरिम-शरीरी हो गया है और उसे विशेष भव-भ्रमण नहीं करने पड़ेंगे। आहारक-द्विक का बन्धक अप्रमत्त संयती, पतित हो कर दीर्घकाल तक जन्म-मरण भी कर सकता है। किंतु जिन-नाम कर्म की प्रकृति को निकाचित करने वाला तो तीसरे भव में अवश्य ही मुक्त होता है—निश्चय ही। तीसरे भव में वह तीर्थंकर बन ही जाता है और भव्य जीवों को धर्मदान दे कर, मुक्त हो कर शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है।

तीर्थंकर नाम-कर्म की प्रकृति ऐसी है कि जिसका बन्ध धर्म-श्रद्धा की दृढ़ता रूप चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ हो कर

निवृत्ति-बादर गुणस्थान पर्यन्त बन्ध सकता है। बयालीस प्रकार की पुण्य-प्रकृतियों में तीर्थंकर नाम-कर्म की पुण्य-प्रकृति सर्वोत्तम एवं उत्कृष्ट है। इससे बढ़ कर उत्तम कोई पुण्य-प्रकृति नहीं है। जब इस पुण्य-प्रकृति का उदय होता है, तो आत्मा त्रिलोक पूज्य, विश्व-विभूति और देवेन्द्रों-नरेन्द्रों के लिए परम वन्दनीय हो जाती है। वह परम वीतरागी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होती है और जीवन पर्यन्त भव्यात्माओं को धर्म-दान करती हुई परमपद को प्राप्त हो जाती है।

तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध होता तो सम्यग्दृष्टि श्रावक-श्राविका, देश-विरत साधक-साधिका और सर्वविरत साधु-साध्वी के है, किंतु किस प्रकार की साधना से होता है, यही इस पुस्तक का विषय है। इस पुस्तक में ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में उल्लिखित, तीर्थंकर-पद प्राप्ति के बीस उपायों का विस्तार के साथ विवेचन मैंने अपनी समझ के अनुसार किया है। मेरे सोचने और लिखने में भूलें भी हो सकती है और अन्यथा विचार भी प्रस्तुत हुए हों, तो ज्ञानीजन सुधार कर उपयोग करें और मुझे भी सूचित करने की कृपा करें, जिससे मैं अपनी भूल सुधारने का प्रयत्न करूँ।

सर्व प्रथम मैंने यह लेखमाला सम्यग्दर्शन के वर्ष १० दि. ५-१-५९ के अंक से प्रारंभ कर वर्ष ११ दि. २०-१२-६० के अंक (३७ अंकों) में पूरी की। इस लेखमाला को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की माँग पहले भी हुई थी। इतना ही नहीं, अन्य कई लेखमालाओं को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने

की माँगें आई और अब भी आती रहती है, किंतु हमारी अनुकूलता के अभाव के कारण पूरी नहीं की जा सकी। उनमें से यह पुस्तक प्रकाशित की जा सकी है।

इस पुस्तक का प्रकाशन भी श्रीमान् सेठ नाथूलालजी सा. लोढ़ा सैलाना की विशेष प्रेरणा से करना पड़ा। आपके पू. पिताश्री के स्वर्गवास के समाचार पा कर, आदर्श उपासक, गृहत्यागी प्रतिमा-प्रतिपन्न एवं श्रमण के समान भिक्षोपजीवी पादविहारी श्रीमान् मोतीलालजी सा. मांडोत (वर्तमान मुनिश्री) ने श्रीमान् सेठ नाथूलालजी सा. को समवेदना सन्देश देते हुए सूचित किया कि पिताश्री की स्मृति में 'तीर्थंकर-पद प्राप्ति के उपाय' नामक सम्यग्दर्शन की लेखमाला को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करावें, तो भव्यात्माओं के लिए बहुत उपयोगी होगी। आपकी सूचना पा कर तत्काल ही सेठ सा. मेरे पास आए और इस पुस्तक के प्रकाशन का आनुमानिक खर्चा पूछा। मैंने बाद में विचार कर के बताने का कहा, परंतु आपको विलंब अखरा। आपको उसी समय अनुमान बताना पड़ा। दूसरे दिन मैंने लेखमाला को देख कर बढ़े हुए खर्चे का आंक आपको बताया, तो आपने उसी समय उससे भी कुछ अधिक रकम मेरे पास ले आए और मना करते हुए भी डाल गए। हमारे सामने एक समस्या खड़ी हो गई। हम चालू काम रोक कर, इस पुस्तक को प्राथमिकता नहीं दे सकते थे। अंत में हमने रात को दो घंटा अतिरिक्त काम ले कर यह काम करवाया और पूर्ण किया।

श्रीमान् सेठ नाथूलालजी सा. ने इस पुस्तक का पूरा खर्च दिया है। उनकी ओर से यह पुस्तक अमूल्य ही है। बिक्री के लिए विशेष प्रतियां निकाली गई है।

श्रीमान् सेठ नाथूलालजी सा. लोढ़ा धर्म-प्रेमी और उदार हृदयी सुश्रावक हैं। धार्मिक कार्यों में अग्रभाग लेते रहते हैं। आपके पिताजी के स्वर्गवास पर आपने नुकता-मोसर की कुरूढ़ी को त्याग कर लगभग १२०००) रु. पुण्य कार्यों में प्रदान किये हैं। आपकी इस पुस्तक का सदुपयोग ही होगा, ऐसी आशा है।

यदि इस पुस्तक में ज्ञान की अल्पता के कारण मुझसे कुछ अन्यथा निरूपण हो गया हो, तो अर्हंत भगवान् एवं आत्म-साक्षी से मिच्छामि दुक्कडं।

सैलाना — रतनलाल डोशी

चैत्र शु. ५ सं. २०२९

दि. १९-३-७२

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ संख्या
१	अरिहन्त भक्ति	२
	१ अतिशय	२९
	२ वचनातिशय	३५
	३ तीर्थंकर नाम-कर्म की विशेषता	३८
	४ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी	४३
	५ अरिहन्त भगवान् का उपदेश	५२
२	सिद्ध भक्ति	८२
	१ सिद्ध स्थान	९५
३	प्रवचन भक्ति	११०
४	गुरु भक्ति	११६
५	स्थविर भक्ति	१२०
६	बहुश्रुत भक्ति	१२०
७	तपस्वियों की भक्ति	१२१
८	सतत ज्ञान आराधना	१२२
९	दर्शन आराधना	१२३
१०	विनय साधना	१२४
११	आवश्यक साधना	१२७
१२	शुद्ध चारित्र पालन	१३०

क्र.	विषय	पृष्ठ संख्या
१३	शुभध्यान	१३२
१४	तपश्चरण	१३३
१५	सुपात्र दान	१३४
१६	वैयावृत्य	१३६
१७	समाधि भाव	१३७
१८	नवीन ज्ञान का अभ्यास करना	१४०
१९	श्रुत-भक्ति	१४३
	१ मिथ्या श्रुत का अस्तित्व	१४६
	२ ज्ञानी कौन ?	१६७
२०	प्रवचन-प्रभावना	१६९
उपसंहार		१८६

तीर्थंकर-पद प्राप्ति के उपाय

अरिहंत-सिद्ध-पवयण, गुरु-थेर-बहुस्सुए-तवस्सीसु ।
वच्छल्लया य तेसिं, अभिक्खणाणोवओगे य ॥१॥
दंसण-विणय-आवस्सए य, सीलव्वए निरइयारे ।
खणलव-तव-च्चियाए, वेयावच्चे समाहिए ॥२॥
अपुव्वणाणग्गहणे, सुयभत्ती पव्वयण-पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

आत्मा और परमात्मा में भेद केवल कर्म-आवरण का है। कर्म-आवरण, विभाव परिणति से आत्मा ने ही उत्पन्न किये हैं और विभाव परिणति कर्मोदय से अनुप्राणित है। विभाव—विकारी भाव मिट जाने पर आत्मा परमात्मा बन जाती है।

स्वभाव से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं, अन्तर है विभाव-जनित। ज्यों-ज्यों विभाव एवं तज्जन्य कर्मावरण में कमी आती है, त्यों-त्यों आत्मा में हलकापन आता है और वह उन्नत होती जाती है।

कर्म-बन्धन अशुभ भी होते हैं और शुभ भी। शुभकर्मों की ४२ प्रकृतियों में 'तीर्थंकर' प्रकृति सर्वोत्तम है। जो आत्मा इस सर्वोत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति को बाँध कर दृढ़ीभूत (निकाचित) कर लेती है, वह अवश्य ही परमात्म-पद प्राप्त करती है। श्री 'ज्ञाताधर्मकथा' नामक छठे अंग के आठवें अध्ययन में तीर्थंकर पद प्राप्ति के बीस उपाय बताये हैं। उपरोक्त गाथाबद्ध बीस उपायों में प्रथम उपाय है—अरिहंत भगवान् की भक्ति।

अरिहन्त भक्ति

"णमोत्थुते सिद्ध बुद्ध णीरय समण समाहिअ समत्त लभजोगी सल्लगत्तण णिब्भय णिरागदोस णिम्मम णिस्संग णिल्लेव णिसल्लमाणमूरण गुणरयणसीलसागर मणंत मप्पमेय भविअ धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी।"

(इन्द्रस्तुति—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—५)

हे सिद्ध, बुद्ध, निर्मल, श्रमण, तपस्वी, समाधिवंत, कृत-

कृत, समयोगी, शल्यगत–मायादि त्रिशल्य से रहि, निर्भय, रागद्वेष रहित, ममत्व रहित, निःसंग, निर्लेप, मानमर्दक गुणरत्न, शीलसागर, अनन्तज्ञानी, अनुपम, भव्य, चतुर्गति रूप संसार का अन्त करने वाले धर्म चक्रवर्ती ! आपको नमस्कार हो।

व्याख्याकार आचार्य ने 'अरिहंत' शब्द के इतने रूप बनाये हैं–अर्हत्, अरहोऽन्त, अरथांत, अरहंत, अरिहंत और अरूहंत।

अर्हत्–जो वन्दनीय, पूजनीय, सत्कार-सम्मान और नमस्कार करने के योग्य हों और जो मुक्ति प्राप्त करने वाले हों।

अरहोऽन्त–जिन्होंने ज्ञान-दर्शन पर लगे हुए समस्त आवरण नष्ट कर के सर्वज्ञता एवं सर्वदर्शिता प्राप्त कर ली हो, और जिनसे किसी भी प्रकार का रहस्य–गुप्तता नहीं रही हो, ऐसे रहस्यों का अन्त करने वाले।

अरथान्त–जिनके परिग्रह रूपी रथ तथा वृद्धावस्थादि अन्त नहीं हो।

अरहंत–आसक्तियों का सर्वथा अभाव हो कर वीतरागी हो।

अरिहंत–आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी शत्रु का हनन करने वाले।

अरूहंत– संसार-भ्रमण कराने वाले कर्मरूपी बीज के सर्वथा नष्ट होने से जिसमें मलिनता की पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती अर्थात् कर्म-बीज को समूल नष्ट करने वाले।

संक्षेप में यही कि जिन महान् आत्माओं ने मोहनीयादि

चार घातीकर्मों को नष्ट कर के परम वीतरागता और सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता प्राप्त कर ली है, वे अरिहंत कहलाते हैं।

अरिहंत सामान्य भी होते हैं और विशेष = तीर्थंकर भी। यहाँ विवेचन तीर्थंकर पद प्राप्त अरिहंत भगवान् का किया जा रहा है। क्योंकि वे धर्म के आदिकर्त्ता–उद्गम स्थान होते हैं। संसार को मुक्तिमार्ग दिखा कर धर्म प्रवर्त्तन करने वाले तीर्थंकर अरिहंत होते हैं। वे संसार के परम तारक हैं। सामान्य अरिहंत भी उनके उपकार से उपकृत होते हैं।

अरिहंत भगवान्, भव्य प्राणियों के लिए परम आदर्श हैं, परम हितकारी हैं। उनका बताया हुआ मार्ग विशुद्ध है। उनका प्रवचन मिथ्यात्वरूप अन्धकार में भटकते हुए जीवों को प्रकाश प्रदान कर के शाश्वत् सुख का मार्ग बताने वाला है।

अरिहन्त पद प्राप्ति, साधारण साधना नहीं है। एक भव की साधना से अर्हन्त पद की प्राप्ति नहीं हो जाती। इस पद की योग्यता प्राप्त करने के लिए कुछ भव पहले से साधना प्रारम्भ होती है। यह साधना अरिहंत–तीर्थंकर बनने की अभिलाषापूर्वक भी नहीं की जाती, किन्तु मुक्त होने की भावना से साधना प्रारम्भ होती है। साधना के आदि काल में संवेग (मोक्ष की रुचि–प्रेम) होता है और उस रुचि में से ही, अरिहंत भगवान् के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है। उनकी परम वीतरागता सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता, यथाख्यात–उत्तमोत्तम चारित्र आदि उत्तम गुणों का चिन्तन करते, उनके प्रति भक्ति, बहु-मान, वन्दन, नमस्कार करते और उन गुणों को अपने में उतारने

में प्रत्यनशील होते-होते, "अर्हन्त-तीर्थंकर नाम-कर्म की सर्वोत्तम पुण्य-प्रकृति के दलिक, आत्मा के साथ संबन्धित होते हैं। यदि साधना चलती रहे और इस प्रकार के दलिकों का संग्रह होता रहे, तो कालान्तर में, भावों की उत्कृष्टता-परम उत्कृष्टता मे तीर्थंकर नाम-कर्म निकाचित (दृढ़ीभूत, अवश्य फल देने वाला) बंध जाता है। इस प्रकार की उत्तम सामग्री मनुष्य को ही प्राप्त हो सकती है-उसी मनुष्य को जो अरिहंत भगवंत को, उनके स्वरूप को यथार्थ रूप में जानता, मानता और आदर-सम्मान करता हो। फिर भले ही वह श्रावक हो या श्राविका, साधु हो या साध्वी। जो सम्यग्-दृष्टि मनुष्य, अरिहंतों के प्रति अनन्य भक्ति रखता हो, वह भावों की उत्कृष्टता से तीर्थंकर नाम-कर्म बाँधता है। सम्यग्-दृष्टि मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी गति में, अथवा मिथ्यात्व के सद्भाव में, जिन नाम-कर्म निकाचित नहीं होता।

तीर्थंकर भगवंत, विश्वोत्तम महापुरुष होते हैं। वे स्वयं सुदृष्टि, निवृत्ति, त्याग, तप आत्म विशुद्धि के द्वारा अरिहंत हुए हैं और भव्य जीवों को भी ऐसा ही मार्ग बतलाते हैं। उन्होंने खुद ने अज्ञान, मोह और दुर्वृत्तियों पर विजय पाई और यही मार्ग भव्य जीवों को बताया। हम इतर देवों में जो विषमता देखते हैं, वह जिनेश्वरों में है ही नहीं। इतर देव, विषय-कषाय में संलग्न मिलते हैं। उनमें अज्ञान भी उपस्थित रहता है। उपासकों पर कृपा और दूसरों पर अप्रसन्नता रूप पक्षपात तथा रागद्वष से वे वंचित नहीं हैं।

विश्वभर में एक जिनेश्वर देव ही ऐसे अद्वितीय होते हैं, कि जिनमें ये दोष, लेशमात्र भी नहीं रहते। उनमें अपना मत बढ़ाने की–धर्म फैलाने की इच्छा भी नहीं रहती। कोई उपासक बने, तो उन्हें हर्ष नहीं और गोशालक जैसा भयंकर शत्रु बन जाय तो भी शोक नहीं। उनका उपदेश-दान भी तीर्थंकर नाम-कर्म के उदय से होता है, रुचि या इच्छा से नहीं।

जिनेश्वर भगवंत सर्वथा निर्दोष होते हैं। उनमें १ मिथ्यात्व, २ अज्ञान, ३ अविरति, ४ काम, ५ हास्य, ६ रति, ७ अरति, ८ शोक, ९ भय, १० जुगुप्सा, ११ राग, १२ द्वेष, १३ निद्रा, १४ दानान्तराय, १५ लाभान्तराय, १६ वीर्यान्तराय, १७ भोगान्तराय, १८ उपभोगान्तराय–ये १८ दोष नहीं रहते, किन्तु, इतर देवों में ये सभी दोष विद्यमान रहते हैं। जैसे–

१ मिथ्यात्व–अरिहंत भगवान्, पूर्व-भवों में ही मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर लेते हैं और सम्यक्त्व अवस्था में ही तीर्थंकर नाम-कर्म को निकाचित करते हैं। उनका सम्यक्त्व, बाद के भव मे तथा गर्भ में उत्पन्न होते समय भी साथ रहता है। इतर देवों के तो उनके देवत्व के चलते हुए भी मिथ्यात्व लगा रहता है। वे जीवों के तथा उनके सुख-दुःख, हानि-लाभ तथा विश्व के कर्त्ता-धर्त्ता और हर्ता बनते हैं। कोई दुष्टों की उत्पत्ति भी करते हैं और कोई संहार भी। तात्पर्य यह कि मिथ्यात्व का दोष, अन्य सभी देवों में विद्यमान रहता

है। परन्तु जिनेश्वर भगवन्त तो अपने पिछले भवों से ही इस महा दोष से सर्वथा मुक्त रहते हैं और दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय हो जाने से उनमें क्षायक-सम्यक्त्व सादि-अपर्यवसित रहता है।

२ अज्ञान—जहां मिथ्यात्व होता है, वहां अज्ञान का दोष तो अवश्य ही रहता है। जो सामान्य सम्यग्दृष्टि होते हैं, उनका यत्किंचित् तत्त्व-बोध भी ज्ञान रूप होता है। ज्ञानावरण कर्म के उदय से छद्मस्थ जीवों के ज्ञान में भी तरतमता रहती है, परन्तु जिनेश्वर भगवन्त तो ज्ञानावरण कर्म को मूल से ही नष्ट कर देते हैं और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाते हैं। इसलिए उनमें तो अज्ञान का लेश भी नहीं रहता। वे अपने पूर्वभव से ही अवधि-ज्ञान ले कर आते हैं और संसार त्याग कर प्रव्रजित होने के साथ ही मनःपर्यव ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। फिर महान् साधना के द्वारा शेष ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट कर के सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाते हैं। अन्य देवों में अज्ञान बराबर बना रहता है। यह बात उनके उपलब्ध चरित्र तथा उपदेश से सिद्ध होती है। जिनेश्वर भगवन्त का चारित्र और उपदेश तथा वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन, इस दोष से सर्वथा मुक्त है। अर्थात् अरिहंत भगवान् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। उनमें इस दोष का लेश भी नहीं है।

३ अविरति—हिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन एवं परिग्रह से सर्वथा विरत होने के कारण, अरिहन्त भगवान् में अविरति

का दोष भी नहीं है। जिसमें मिथ्यात्व और अज्ञान होता है, उसमें अविरति होती ही है। यदि किसी में त्याग दिखाई देता हो और वह कुछ विरत-उपरत भी हो, तो भी मिथ्यात्व के सद्भाव में उसका त्याग, मुक्ति का कारण नहीं हो सकता। क्या अन्धे की दौड़, ठीक दिशा में हो सकती है ? दावानल से जलते हुए बन में, अन्धा कितना ही दौड़े, वह बच नहीं सकता। इसी प्रकार अज्ञानी का त्याग-तप, विरति में नहीं गिना जाता। इतर देव तो स्पष्ट रूप से, हिंसादि पापों से युक्त दिखाई देते हैं। कोई स्त्री को साथ लिये है, कोई चक्र, गदा, त्रिशूल आदि से सज्ज हो कर, किसी को मारने को उद्यत है, तो कोई बकीन (विश्वास) नहीं लाने वालों को दुःखी करने का संकल्प प्रकट कर चुके हैं। इतर देव अनेक प्रकार से अविरति के पास में बंधे हुए हैं, तब अरिहन्त भगवान् के सामान्य साधु भी पूर्ण विरत होते हैं। यह आज सभी के सामने प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर और उनके आगम कथित जीवन-चरित्र से, उन परम वीतरागी भगवन्त में, परम एवं सर्वोत्कृष्ट विरति का होना अपने-आप सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह कि अरिहन्त भगवन्त, परम वीतरागी होते हैं। अतएव उनमें अविरति का सर्वथा अभाव होता ही है।

४ काम—भोगेच्छा, यह दोष संसार-रत प्राणी में होता है। जो इन्द्रियों के विषयों और विकारों से युक्त होता है, उसी में काम-वासना होती है। अन्य देव, निष्काम नहीं, किंतु सकाम हैं। वे सुन्दर दृश्य, सुरभि गंध, मधुरादि रस, कोमल स्पर्श

और कर्ण-प्रिय शब्द सुनना चाहते हैं। उनके साथ स्त्री रहती है। कई देवों के चरित्र में तो यह बतलाया है कि वे अपनी पत्नी से भी संतुष्ट नहीं रह कर कभी अन्य स्त्री के स्नेह में फँस जाते थे। एक प्रमुख देव के चरित्र में तो ऐसा लिखा है कि वह अपने शरीर से ही उत्पन्न (पुत्री समान) स्त्री के साथ भोगासक्त हो गया। स्त्री को विचार हुआ कि 'पिता, पुत्री के साथ संभोग करे, यह तो महान् लज्जा की बात है।' इस प्रकार विचार कर के छुपने की इच्छा से वह गाय बन गई, तो परमेश्वरजी ने वृषभ का रूप धारण कर उसके साथ संभोग किया। इस प्रकार अनेक रूप से भोग करने की बात जिनके चरित्र में मिलती हो, क्या वे भी परम तारक देव-पद में पूज्य हो सकते हैं ?

अरिहंत भगवंत का चरित्र अनुपम होता है। उनके हृदय में काम का वास होता ही नहीं। गृहस्थावस्था में भी उनका जीवन, अन्य गृहस्थों की अपेक्षा बहुत उत्तम होता है। जितनी कामलिप्सा अन्य देवों में—देवावस्था में—पाई जाती है, उतनी तीर्थंकर भगवान् के गृहस्थ जीवन में भी नहीं होती। वे परिणित पत्नी में भी अति लुब्ध नहीं होते, तब अन्य की तो बात ही क्या है ? जिस दिन से वे गृह-त्याग करते हैं, उस दिन से तो वे किसी स्त्री का स्पर्श भी नहीं करते। वे इतने उच्च काम-विजेता होते हैं कि देवांगनाओं का समूह भी उन्हें संयम-मार्ग से तनिक भी विचलित नहीं कर सकता। सच्चा काम-विजेता उनके समान कोई दूसरा नहीं हो सकता। दुनिया का एक भी ऐसा देव नहीं दिखाई देता कि जिसने काम-भोग का सर्वथा त्याग

किया हो और ब्रह्मचर्य का इतना उत्तम उपदेश दिया हो।

दुनिया के कई देव, स्वतः कामी एवं भोगी थे और उन्होंने काम-भोग की अनुमति भी दी है। इतना ही नहीं, कन्यादान एवं ऋतुदान को धर्मरूप माना है। एक जिनेश्वर भगवंत ही ऐसे हैं, जिन्होंने काम-भोग को पाप बता कर त्याग का उपदेश दिया है। तात्पर्य यह कि जिनेश्वर भगवंत में 'काम' का दोष किञ्चित् मात्र भी नहीं होता।

५ **हास्य**– हँसी आना, यह भी एक प्रकार का दोष है। जिस आत्मा में मोहनीय कम का उदय होता है और जो छद्मस्थ होती है, उसी को हँसी आती है। मनुष्य वही हँसता है जहां उसे अपूर्वता लगे और जिसे अपूर्वता लगे–वह सर्वज्ञ ईश्वर काहे का ? हँसी आना तो साधारण मनुष्य का लक्षण है। जिससे बहुत-सी बातें छुपी हुई है। अर्थात् वह सर्वज्ञ नहीं, किन्तु अल्पज्ञ है। सर्वज्ञ को कभी हँसी नहीं आती। जो हँसते हैं, वे परमदेव नहीं हो सकते। जिनेश्वर भगवन्त इस दोष से सर्वथा मुक्त रहते हैं।

६ **रति**– इच्छित वस्तु की प्राप्ति से होने वाली तुष्टि, खुशी। यह भी दोष है और मोहनीय कर्म के उदय से होता है। सातावेदनीय के उदय में आनन्द मानने से मोहनीय कर्म का उपार्जन होता है। अन्य देव भक्ति के वश होते हैं। वे भक्ति से प्रसन्न हो कर आशिर्वाद भी देते हैं। कभी-कभी ऐसा आशिर्वाद भी दे डालते हैं, जो उन खुद के लिये दुखदायक बन जाता है। तीर्थंकर भगवन्त वीतराग हैं। उनमें इस दोष का लेश भी नहीं रहता।

७ अरति–अप्रिय प्रसंग से होने वाला दुःख। रति से उलटी स्थिति अरति में होती है। इससे चित्त की अप्रसन्नता होती है। कई देव तो ऐसे असहनशील होते हैं कि जिस पर उनकी अप्रसन्नता होती है, उसे शाप दे कर भयंकर दशा में डाल देते हैं। तीर्थंकर भगवन्त कभी किसी पर अप्रसन्न होते ही नहीं, भले ही कोई गोशालक जैसा घातक शत्रु बन कर ही क्यों न आवे। वे तो पूर्ण वीतरागी होते हैं।

८ शोक–प्रिय वस्तु के वियोग से होने वाला रंज। शोक, विवशता की स्थिति में होता है। जिसकी प्राप्ति या रक्षण के लिए मनुष्य के पास कोई उपाय नहीं हो और लाचार हो गया हो, वहां उसे शोक होता है। अन्य देवों में यह दोष भी देखा जाता है। कोई भातृ-वियोग से रंज करता है, तो कोई प्रिया के विरह में। यह भी मोहनीय कर्म की ही प्रकृति है। अरिहंत भगवान्, छद्मावस्था में भी, शोक के सभी कारणों का, एक महान् योद्धा की तरह त्याग कर के, मोहराज से युद्ध करने में भिड़ जाते हैं। पूर्ण विजेता हो जाने के बाद उनमें शोक रहे ही कैसे ? अर्थात् यह दोष उनमें नाम-मात्र भी नहीं था।

९ भय–डर, शत्रु का भय, परलोक में दुःख प्राप्त होने का भय, धनादि के विनष्ट होने का भय, अकस्मात् संकट आ जाने का भय, आजीविका के साधन टूट जाने का भय, बदनामी का भय और मृत्यु का भय। इस प्रकार के भय साधारण मनुष्यों, तिर्यंचों, देवों और नारकों में यथायोग्य रहते हैं। संसारी प्राणी जब तक पराश्रित है, तब तक निर्भय नहीं हो सकता। यह

भय अन्य देवों में भी उपस्थित है, तभी तो वे अपने पास गदा, चक्र, त्रिशूल आदि शस्त्र रखते हैं। किन्तु अर्हंत भगवान् तो एकांत निर्भय हैं। उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। वे अन्य प्राणियों को भी निर्भय बनाने वाले–भय-भंजक हैं अर्थात् भय के दोष से भी भगवान् सर्वथा मुक्त है।

१० **जुगुप्सा**– घृणा का भाव। साधारण समभाव वाला व्यक्ति भी किसी से घृणा नहीं करता और मध्यस्थ भाव रखता है, तब परम आराध्य ऐसे सर्वोच्च पद पर रहने वाली महान् आत्मा में घृणा का भाव होना तो दोष रूप ही है। घृणा–नफरत साधारण मनुष्य में होती है, महामानव में नहीं होती। हेयोपादेय का विवेक बतलाना घृणा नहीं है, वह हितशिक्षा है। किन्तु अप्रिय वस्तु पर द्वेष होना घृणा है। इस दोष में 'मत्सरता' का भी समावेश होता है। दूसरों में विशेषता देख कर उनसे ईर्षा करना–डाह रखना, उसकी हानि चाहना, ये सभी दोष इसी भेद में आते हैं। अन्य देवों में घृणा एवं मत्सरता के भाव दिखाई देते हैं। एक मत का परम आराध्य कहता है कि–'जो मुझे छोड़ कर दूसरों को पूजता है, वह नष्ट हो जायगा, उसे अपार हानि उठानी पड़ेगी। मैं उस पर आपत्तियों के पहाड़ब रसाउँगा, इत्यादि। जिनेश्वर भगवन्त में न तो घृणा होती है, न मत्सरता ही।

११ **राग**–स्नेह–प्रेम, यह भी दोष है। राग के वश हो कर जीव अकार्य भी कर डालता है। राग के कारण पक्षपात होता है। जिस पर स्नेह होता है, उसके लिए भले बुरे कार्य भी

करने पड़ते हैं। अन्य देव, भक्त के वश में हो कर उनके इच्छित कार्य करने के लिए समय-कुसमय दौड़ते रहते हैं। भक्त की विपत्ति को दूर करने के लिए खुद भगवान् को भाग-दौड़ करना पड़े, तो यह राग-परिणति का प्रमाण है। राग तो मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, काम, हास्य, रति आदि सभी दोषों की जड़ है। जहां राग है वहां अनेक दोषों का सद्भाव है। अरिहंत भगवान् में राग का अंश भी नहीं होता। मोहनीय कर्म को सर्वथा नष्ट कर के वे वीतराग हो चुके हैं। उनके जीवन में भक्त के प्रति प्रसन्नता या वरदान की एक भी घटना नहीं मिलती। जिनेन्द्र मत में, अरिहंत के आराधक की आत्मा में, गुण प्राप्ति से विकास होना स्वीकार किया है, परंतु अरिहंत किसी की भक्ति से प्रसन्न हो कर किसी को वरदान देते हों, या कुछ कार्य कर देते हों, ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि राग रूपी दोष का आत्यंतिक अभाव जिनेश्वर भगवंत में ही होता है।

जिनोपासक, जिनेश्वर भगवंत के गुणगान करते हैं और उनसे बोधिलाभ तथा सिद्धि की माँग करते हैं, यह व्यवहार दृष्टि से है। इसका मूल कारण तो अपने भीतर रहे हुए जीवराज में, उपास्य के गुणों को—सत्तागत सुप्त रही हुई शक्ति को—जगा कर जिनराज बनाना है। जिनराज बनने का कार्य, स्वतः जीवराज को ही करना पड़ता है। वह जिनराज का आदर्श रख कर अपने आप को जिनराज बनाना चाहता है।

जिनराज अपने उपदेश द्वारा जीवराज को परमानन्द

प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। इस प्रकार वे साधक की साधना में निमित्त हो सकते हैं। यही उनका तारकपन है। तिरना जीव के अपने सामर्थ्य से ही होता है। भगवान् कृपा कर के किसी को तारते हों—ऐसी बात नहीं है।

१२ द्वेष—अप्रसन्नता—रुष्ट होना। यह भी मोह के कारण होता है। विरोधी से रुष्ट होना, अपराधी से अप्रसन्न हो कर उसका अहित चाहना, शाप देना, यह सब द्वेष के कारण होता है। भगवान् महावीर का अस्तित्व मिटा देने के भयंकर द्वेष से आगबबूला हो कर आक्रमण करने वाले गोशालक पर भी जिन्हें तनिक भी द्वेष नहीं हुआ, ऐसे जिनेश्वर भगवंत में द्वेष का अंश कैसे हो सकता है? परम सुख, उत्कृष्ट शांति और परमात्म दशा, वही जीव प्राप्त कर सकता है, जिसका लक्ष राग-द्वेष रूपी मल को मूल से नष्ट कर देने का हो। ऐसे व्यक्ति के आराध्य, एक मात्र जिनेश्वर देव ही होते हैं, क्योंकि उनमें द्वेष का सर्वथा अभाव होता है।

१३ निद्रा—नींद दर्शनावरणीय कर्म के उदय से आती है। जिस समय नींद आती है, उस समय जीव, एक प्रकार से बेभान हो जाता है। उसके आसपास क्या होता है, कौन आया, कौन गया, क्या लिया, यह कुछ भी मालूम नहीं होता। वह सोता ही रहे और उसके पास रहा हुआ धन चोर लूट जाय, शस्त्र-प्रहार से मार डालने का प्रयत्न कोई कर रहा है, इसका भी ज्ञान उसे नहीं होता। तात्पर्य यह कि निद्रा

भी एक दोष है और यह घातीकर्म के उदय से होता है। यह दोष अन्य दोषों की भांति सर्वसाधारण में होता है, किन्तु जो परम आराध्य हों, यदि उसमें भी यह दोष हो, तो यह मानना पड़ेगा कि उस भगवान् के समय का कुछ हिस्सा अज्ञान अवस्था में जाता है, अर्थात् निद्रावस्था में होती हुई क्रिया से वह अनभिज्ञ रहता है। अन्य देवों में अन्य दोषों की तरह निद्रा दोष भी रहता है। किसी देव के चरित्र में ऐसी बात आती है कि वे भर नींद में सो रहे थे, परन्तु भक्त की आर्त पुकार से चौंक कर एकदम भागे। जिनेश्वर भगवन्त में निद्रा का दोष बिलकुल नहीं था। जैन सिद्धांत, निद्रा की सत्ता तो छद्मस्थ अवस्था तक मानता है, पर निद्राधीन होने की दशा छठे गुणस्थान तक ही मानता है। इसके आगे सूक्ष्म उदय होना संभव है। जब जैन साधक भी निद्रा को जीतने वाला होता है, तो जिनेश्वर भगवन्त में इसका सर्वथा अभाव हो इसमें असम्भव ही क्या है ?

१४ **दानान्तराय**– दान-शक्ति को रुंधने वाली–बाधक कर्म-प्रकृति। जिस महान् आत्मा के इस कर्म-प्रकृति का क्षय हो जाता है, उसमें दान की अनन्त शक्ति प्रकट हो जाती है। शक्ति के मुख्य पांच प्रकार में से यह पहला प्रकार है। इस अनन्त शक्ति का प्रादुर्भाव मोहनीय–कर्म के नष्ट हो जाने पर होता है। मोही जीवों के अन्तराय का क्षयोपशम हो सकता है, क्षय नहीं होता। जिस आत्मा के दानान्तराय का जितना जोरदार उदय होता है, उसमें दान की शक्ति उतनी ही दबी

रहती है। दान की समग्री, योग्य पात्र तथा दान का महात्म्य जानते हुए भी, दान नहीं कर सकना—दानान्तराय के विशेष उदय का परिणाम है। अन्य देवों में यह दोष स्पष्ट रूप से पाया जाता है, क्योंकि वे ईश्वर—सर्वपालक कहा कर भी असंख्य जीवों को सुख की सामग्री प्रदान नहीं करते। एक भक्त को इच्छित सम्पत्ति प्रदान कर देते हैं, तो दूसरे अभक्त की प्राप्त सामग्री भी नष्ट कर देते हैं। उनसे अपने विरोधियों को कुछ दिया ही नहीं जाता, इतना ही नहीं, वे उनका प्राप्त सुख भी हरण करने पर उतारु हो जाते हैं। उनके लिए उनके हृदय में दुर्भाव उत्पन्न हो कर दान में अन्तराय रूप बनता है।

जिनेश्वर भगवन्त के दानान्तराय नष्ट हो जाती है। गृहस्थावस्था में उनके दानान्तराय का क्षयोपशम विशेष प्रकार का होता है, जिसके चलते वे सर्व त्यागी होने के पूर्व, एक वर्ष पर्यन्त रोज एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। ऐसा अपूर्व महादान करने के बाद वे सर्वत्यागी बन जाते हैं और अवशेष कर्मों को नष्ट करते हैं। पहले मोहनीय कर्म को भस्म करते हैं. उसके बाद ज्ञानवारणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म को एक साथ नष्ट कर देते हैं। अन्तराय कर्म के नष्ट होते ही उनमें अनन्त दान-शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

शंका—अरिहंत भगवान् में उत्पन्न अनन्त दान-शक्ति से वे खूब दान करते होंगे ?

समाधान—भगवान् भौतिक वस्तु के सर्वथा त्यागी होते हैं। जिस दिन उन्होंने सर्वस्व का त्याग किया, उसी दिन से

भौतिक वस्तु के दान का तो प्रसंग रहा ही नहीं। वे दान के लिए किसी वस्तु को स्वीकार भी नहीं करते। वे मोक्षमार्ग के महान् नेता हैं और उसी का प्रवर्तन करते हैं। भव्य प्राणियों को वे उपदेश करते हैं कि "हे भव्यों! भौतिक वस्तु का ग्रहण करते-करते तो अनन्त काल बीत गया, इससे किसी को स्थायी शान्ति नहीं मिली। सच्ची शान्ति त्याग में है। इसलिए परिग्रह को छोड़ो और लघुभूत बनो। जड़ के संयोग को छोड़ो और आत्मधनी बनो।" इस प्रकार वे परिग्रह के त्यागी बना कर परम शान्ति का अपूर्व दान करते हैं। आत्मा को परमात्मा बनाने के महादान से बढ़ कर अधिक महत्वपूर्ण दान और क्या हो सकता है? भौतिक वस्तु तो कालान्तर में नष्ट हो जाती है, पर अनन्त आत्मलक्ष्मी तो परमात्मा बना देती है।

वस्तु का दान, केवल दाता की ही अपेक्षा नहीं रखता, पात्र की योग्यता की अपेक्षा भी रखता है। लाभान्तराय के गाढ़ उदय वाले जीव को सामग्री और दाता का योग मिलने पर भी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।

दानान्तराय के नष्ट होने से उत्पन्न अनन्त दान-शक्ति का तात्पर्य—शक्ति पर लगे हुए आवरण नष्ट हो कर पूर्ण विकास होना है। इस शक्ति वाली महान् आत्मा के लिए न तो वस्तु का अभाव रहता है, न देने से कोई रोकने वाला ही होता है। वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होते हैं, और पूर्ण शक्ति-सम्पन्न होते हैं। शक्ति में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती। बस यही समझना

पर्याप्त होगा ×।

शंका–क्या दान देना बुरा है, पाप है, जो अरिहंत भगवान् शक्ति होने पर भी दान नहीं करते ?

समाधान–फल तीन प्रकार से होता है–१ पाप रूप २ पुण्य रूप और ३ निर्जरा रूप। इनमें से अधर्म-दान में पाप होता है, अनुकम्पा–दान में मुख्यतः पुण्य होता है, अन्य प्रकार के दानों में यथा परिणति पुण्य-पाप होता है और धर्म-दान में मुख्य रूप से निर्जरा होती है। त्यागियों के पास देने के लिए अभयदान, श्रुतदान, प्रव्रज्यादान एवं उपदेशदान है। परिग्रह-धारी अपने साधनों का दान कर सकता है–जो प्रायः शुभाशुभ बंध का कारण होता है और धर्मदान–धर्मियों को दान देने से, मुख्यतः निर्जरा हो सकती है, किन्तु त्यागियों का दान सर्वोपरि है। इस प्रकार का दान परिग्रहधारी नहीं दे सकता।

अरिहंत भगवंतों के महादान का ही यह फल है कि अनन्त जीव मुक्ति प्राप्त कर के शाश्वत सुखों के स्वामी बन सके। उनकी लोकोत्तर अनन्त शक्ति, आत्मा को परमात्मा बनाने वाली है। इसीसे उन्हें 'अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरण-दाता, शाश्वत–अमर जीवनदाता, बोधिदाता और धर्मदाता जैसे महान् दानी माना है। इस प्रकार भगवान् में दानान्तराय रूप दोष भी नहीं होता। वे सर्वश्रेष्ठ अनन्त दान-शक्ति के धारक होते हैं।

× इस विवेचन में कल्पना से विशेष काम लिया है। यदि भूल हो तो सुझाने की कृपा करें।

शंका–जो दान नहीं दे सके, उनके दानान्तराय कर्म का उदय क्यों नहीं माना जाय ?

समाधान–कर्म का उदय वहीं मानना चाहिए–जहां इच्छित कार्य सम्पन्न नहीं हो कर उसमें बाधा खड़ी होती हो। इच्छित वस्तु की प्राप्ति अन्तराय कर्म के क्षयोपशम तथा सातावेदनीय के उदय से होती है, तो अप्राप्ति अन्तराय तथा असाता के उदय से। जहाँ इच्छा ही नहीं–चाह नहीं, वहाँ अन्तराय कैसी ? अन्तराय का अर्थ ही 'बाधा–रोक' होता है और यह इच्छा से सम्बन्धित है। जो इच्छा का त्याग कर दे, उसके अन्तराय के उदय का परिणाम नहीं कह सकते। सिद्ध भगवंत के पास कुछ नहीं होता, तो क्या उसमें लाभान्तराय का उदय मानेंगे ? नहीं। साधु घरबार कुटुम्ब-परिवार और धन-संपत्ति का त्याग कर के निकलते हैं, वह उनका त्याग है, अन्तराय नहीं है।

जो दान देना चाहे, पर नहीं दे सके, उसमें बाधा खड़ी हो जाय, वहीं दानान्तराय कर्म का उदय माना जाता है। भौतिक वस्तु का दान, संसारी मनुष्य देते-लेते हैं। भगवान् संसार त्याग कर असंसारी बने हैं। वे असंसारी बनने का–लोकोत्तर–उपदेश-दान तथा प्रव्रज्या-दान ही देते हैं। उनके अन्तराय कर्म होता ही नहीं है, सत्ता में भी नहीं होता। जिनके दानान्तराय कर्म नष्ट हो गया है, वे ही परम आराध्य हो सकते हैं और यह योग्यता केवल अरिहंत भगवान् में ही होती है। दूसरे देवों को इस दोष का ज्ञान ही नहीं है, फिर निर्दोष होना कैसे बन सके ?

१५ लाभान्तराय–इच्छित वस्तु की प्राप्ति में उत्पन्न होने वाली बाधाएँ। जीव आकांक्षा तो खूब करता है, परन्तु प्राप्ति नहीं होने से विवश हो जाता है। लाभान्तराय के उदय वाले जीव को परिश्रम करते हुए भी प्राप्ति नहीं होती और प्राप्त वस्तु भी चली जाती है।

वस्तु तैयार हो, दाता भी उदार भावना वाला हो और याचक भी कुशलतापूर्वक याचना कर रहा हो, फिर भी उसे वस्तु की प्राप्ति नहीं होना और रुकावट हो जाना, यह लाभान्तराय के उदय से होता है। अन्य देवों में लाभान्तराय का उदय विद्यमान रहता है। वे भक्त से भक्ति की आशा तो रखते ही हैं और वह कहीं-कहीं मिल सकती है, सर्वत्र नहीं।

इच्छित एवं अनुकूल वस्तु के लाभ-अलाभ का सम्बन्ध लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम और उदय से है। संसार में मनुष्य, व्यापार, उद्योग, कृषि, नौकरी और याचना आदि करता है, वह आर्थिक लाभ तथा भोगोपभोग की सामग्री की प्राप्ति के लिए करता है। लाभान्तराय के उदय से इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती या होते-होते रुक जाती है। तीर्थंकर भगवान् दीक्षा के एक वर्ष पूर्व से, नित्य बिना किसी भेद-भाव के खुले हाथों से स्वर्णदान करते हैं, किन्तु वह दान भी लाभान्तराय के क्षयोपशम वाले को ही–यथा क्षयोपशम–मिलता है। जिसके लाभान्तराय का उदय हो, उसे तो मिलता ही नहीं।

शंका– यह तो ठीक है, परन्तु लाभान्तराय का उदय, देवत्व के लिए दोष रूप क्यों है ?

समाधान–जिसके लाभान्तराय कर्म का उदय होता है, उसके हृदय में कुछ प्राप्त करने की इच्छा हो और वह प्राप्त नहीं हो, तो उसके लिए मन में खिन्नता होती है। 'अलाभ' को कष्ट रूप–परीषह रूप, माना जाता है। यह आहारादि की अप्राप्ति के रूप में मुनिवरों को भी होता है। अन्तराय कर्म का असातावेदनीय–दुःखानुभव से सम्बन्ध है और उससे कषाय सम्बन्धित है जो मोहनीय कर्म है। जिसके अन्तराय कर्म का उदय होता है, उसमें मोहकर्म का उदय भी होता है और मोहनीय के साथ अनेक दोषों का परिवार लगा रहता है। इसलिए मोहनीय कर्म की उपस्थिति में जितने दोष उपस्थित रहते हैं, वे सब देवत्त्व के लिए बाधक होते हैं।

लाभान्तराय कर्म के उदय वाले प्राणी के मन में कुछ प्राप्त करने की इच्छा का अस्तित्व न्यूनाधिक रूप से रहता है। इच्छा-आकांक्षा की स्थिति साधारण मनुष्य के योग्य होती है। देवत्व के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित, परम आराध्य में यह दोष हो, तो वह देवपद के महत्व को गिरा कर कलंकित करने वाला है। जो स्वयं अभावग्रस्त है, किसी वस्तु की चाह रखता है, वह तो उस वस्तु का आराधक–संसार सेवी है, देव नहीं है, क्योंकि इच्छा की प्रबलता में जीव, कुत्सित कर्म भी कर लेता है।

इच्छित वस्तु की अप्राप्ति से 'अरति' होती है। उस अरति को मिटाने के लिये इच्छित वस्तु को प्राप्त करने का प्रपञ्च करना पड़ता है। जिस प्रकार–"शतरूपा" को प्राप्त करने

के लिये प्रजापति ने किया था (बृहदारण्यक)। इस प्रकार जिसके लाभान्तराय का उदय होता है, वह अपनी इच्छा पूर्ति के लिये ऐसी प्रवृत्ति करता है, जो आराध्य पद के लिये उचित नहीं होती। यदि कोई सर्व-विरत साधु, इच्छापूर्ति का प्रयत्न नहीं कर के शान्तिपूर्वक सहन करता है, तो भी इस स्थिति में—अन्तराय कर्म की उपस्थिति में, वह आराधक रहता है—आराध्य नहीं हो सकता। अन्तराय कर्म रूपी आत्म-घातक मल की उपस्थिति में परम आराध्य पद का पात्र नहीं हुआ जाता है। जिनेश्वर भगवन्त इस दूषण से सर्वथा मुक्त होते हैं।

१६ **भोगान्तराय**—इच्छित वस्तु के भोग में बाधा खड़ी होना। लाभान्तराय के क्षयोपशम से वस्तु की प्राप्ति हो जाय, तो भोगान्तराय कर्म के उदय से ऐसी रुकावट आ जाती है कि जिससे वह भोगी नहीं जा सकती और इच्छा को दबा कर ही रखना पड़ता है। मशालेदार चाट अथवा मिठाइयाँ खाने की इच्छा है और वे पदार्थ प्राप्त भी है, लेकिन रोग के कारण खाया नहीं जाता, अथवा वैद्य ने मनाई कर दी अथवा ऐसा कार्य उपस्थित हो गया कि जिसमें उलझ जाने से खाने का अवकाश नहीं मिलता। यही बात अन्य प्रकार के भोग साधनों के विषय में भी समझनी चाहिये।

जिसके मन में आहार, स्त्री आदि के भोगने की इच्छा हो और बाधा उपस्थित होने के कारण जो भोग नहीं सकते हों, वे भी लाभान्तराय के दोष की तरह परम आराध्य पद के लिये अयोग्य हैं।

७१ **उपभोगान्तराय**– जो वस्तु सतत भोग में आती रहे जैसे–वस्त्र पहना हुआ ही रहता है, घर में हम सतत रहते हैं। इस प्रकार अन्य उपभोग की वस्तुओं के उपभोग में बाधा खड़ी होना।

१८ **वीर्यान्तराय**– शक्ति-हीनता। यह तीन प्रकार की होती है। १ बाल वीर्यान्तराय २ पण्डित वीर्यान्तराय और ३ बाल-पण्डित वीर्यान्तराय।

१ **बाल वीर्यान्तराय**–सांसारिक विषयों में इच्छित कार्य को सम्पन्न करने की शक्ति नहीं लगा सकना। किसी लौकिक कार्य, जैसे–परीक्षा में उत्तीर्ण होना, शत्रु पर विजय पाना, इच्छित अलभ्य वस्तु प्राप्त करना आदि कार्यों में पूर्ण समर्थ नहीं होना, बाल-वीर्यान्तराय है।

२ **पंडित वीर्यान्तराय**–सर्वस्व त्याग कर आत्म-कल्याणार्थ प्रव्रजित होने की भावना होते हुए भी अनगार-धर्म को प्राप्त अथवा पालन नहीं कर सकना।

३ **बाल-पंडित वीर्यान्तराय**–सम्यग्दृष्टि जीव की इच्छा होते हुए भी, श्रावक के व्रतों को धारण कर देश-विरत नहीं हो सकना।

अजैन देवों में तो वीर्यान्तराय के तीनों भेदों का उदय होता है, जो दोष रूप है।

प्रजापति के–जिसने सृष्टि का निर्माण किया–कुकर्म का दण्ड देने के लिये, देवों ने मिल कर रुद्र को उत्पन्न किया, जिसने मृग रूप में बने प्रजापति को बाण मार कर घायल कर

दिया। प्रजापति, रुद्र के भय से भाग कर आकाश में चला गया, जो अब तक मृगशिर नक्षत्र के रूप में भटक रहा है (ऐतरेय ब्राह्मण) यह प्रजापति के वीर्यान्तराय के उदय का परिणाम है। अन्यथा उसे रुद्र से भयभीत होने और दुर्दशा होने का कारण ही क्या था ? जिनेश्वर भगवन्त में वीर्यान्तराय किसी भी रूप में नहीं होता।

अठारह दोषों का यह प्रथम प्रकार * है। इसके सिवाय दूसरा प्रकार भी है। इसमें निम्न दोषों का अन्तर है।

दूसरे क्रम में हिंसा, मृषा और अदत्त ये तीन दोष ऐसे हैं, जो पूर्व प्रकार में नहीं है, किन्तु इनका समावेश 'अविरति' नाम के दोष में हो जाता है। 'क्रीड़ा' नामक दोष का समावेश 'काम' (भोगेच्छा) में हो जाता है। चार कषाय, मद और प्रेम का 'राग-द्वेष' में समावेश हो जाता है।

श्री अरिहंत भगवन्त इन १८ दोषों—समस्त दोषों—से सर्वथा मुक्त होते हैं। वे निर्दोष—निर्मल—परम पवित्र हैं। अतएव परम आराध्य हैं।

उपरोक्त अठारह दोष रहित देव की आत्मा महान् शक्तिशाली होती है। उस विश्वोत्तम अद्वितीय महापुरुष में, उपरो-

---

* क्रम में भेद है। मैंने क्रम में कुछ परिवर्तन किया है। ग्रन्थोक्त क्रम में पांच अन्तराय को पहले स्थान दिया है, तब मैंने मिथ्यात्व को प्रथम स्थान दिया है। इस अनधिकार चेष्टा के लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

क्त दोषों के नष्ट हो जाने से निम्नलिखित आत्मगुण प्रकट होते हैं;–

१ **अनन्त ज्ञान**–आत्मा के ज्ञान गुण पर छाये हुए ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट हो जाने से, आत्मा की सत्ता में रही हुई अनन्त ज्ञान-शक्ति प्रकट हो जाती है। आत्मा में ज्ञान गुण का प्रकाश, इतना उत्कृष्ट कोटि का प्रकट होता है कि जिसके आगे कोटि-कोटि सूर्य का प्रकाश भी फीका रहता है। सूर्य के प्रकाश से तो विश्व का अधिकांश भाग वंचित रहता है। वह तिर्छे-लोक को भी पूर्णतः प्रकाशित नहीं कर सकता, लेकिन अज्ञान को सर्वथा नष्ट कर देने वाली महान् आत्मा के ज्ञान में तो सारा लोक और उससे अनन्त गुण अधिक अलोक भी प्रकाशित हो जाता है। ऐसी कोई भी वस्तु या वस्तु का सूक्ष्मतम अंश भी शेष नहीं रहता कि जो जिनेश्वर के ज्ञान में नहीं आता हो। भगवान् वर्तमान-कालीन ही नहीं, गत अनन्त काल में घटित हुए और अनागत अनन्त काल में घटित होने वाली प्रत्येक वस्तु की, प्रत्येक सूक्ष्मतम अवस्था को एक साथ जानते हैं। यही ज्ञान की पराकाष्टा है और यही निरावरण–अप्रतिहत ज्ञान है। ऐसे अनन्तज्ञानी ही सर्वज्ञ होते हैं। इनसे विश्व का कोई भी रहस्य छुपा नहीं रहता। जिसमें इस प्रकार की ज्ञान-शक्ति नहीं है, वह परम तारक देवाधिदेव होने के योग्य नहीं होता। जिनेश्वर भगवन्त, अनन्त ज्ञान रूपी निज गुण के धारक हैं।

२ **अनन्त दर्शन**– दर्शनावरणीय कर्म के नष्ट हो जाने से

अनन्त दर्शन प्रकट होता है। दर्शन का अर्थ आँखों से देखना, अथवा श्रद्धा ही नहीं होता, किन्तु बिना किसी प्रकार के विस्तार या भेदानुभेद के सामान्य रूप से जानना भी दर्शन का एक अर्थ होता है। आँख के अतिरिक्त कान, नाक, जिव्हा और स्पर्श से जानना भी दर्शन कहलाता है, जिसे "अचक्षुदर्शन" कहते हैं। स्पर्शादि से प्रथम तो अचक्षुदर्शन होता है, उसके बाद उसका विशेष रूप से जानना–ज्ञान कहलाता है। अनन्त दर्शन प्राप्त सर्वदर्शी भगवान प्रत्यक्ष दृष्टा होते हैं। उनके एक मात्र केवलदर्शन ही होता है। चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन उनमें नहीं होता, न उनमें निद्रा पञ्चक ही होता है। जिसमें निद्रा का दोष विद्यमान होता है, वह अनन्त दर्शी नहीं हो सकता। अरिहन्त भगवान् अनन्त दर्शन गुण युक्त होते हैं।

३ **अनन्त आनन्द**–मोहनीय कर्म का बड़ा भारी बोझा हट जाने से आत्मा में हलकापन आ जाता है, भौतिक सुख के बनिस्बत आत्मानन्द की अपूर्व प्राप्ति हो जाती है। वहाँ न तो अलाभ का दुःख होता है, न परीषहों–कष्टों में खेद ही होता है। राग-द्वेष रहित उस पवित्रात्मा के आनन्द का तो कहना ही क्या? नरेन्द्रों और देवेन्द्रों के समस्त भौतिक सुख, वीतराग भगवान् के अनन्त आत्मानन्द की समानता नहीं कर सकते। जिस परम पवित्र आत्मा में संकल्प-विकल्प की अस्थिरता मिट कर, परम समता आ गई हो, उसके सहज आत्मानन्द का तो कहना ही क्या?

४ अनन्त शक्ति—जब तक अन्तराय कर्म का अस्तित्व है, तब तक शक्ति पर आवरण रहता ही है, भले ही वह न्यूनाधिक हो। शक्ति का पूर्ण विकास अन्तराय कर्म नष्ट होने पर ही होता है।

इस अनन्त चतुष्टय से आत्मा की शक्ति का पूर्ण विकास हो जाता है। ज्ञानावरणीय के क्षय से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरणीय के नष्ट होने से अनन्त दर्शन, मोहनीय के मिट जाने से आत्मा का अनन्त क्षायक-भाव—चारित्र और अनन्तराय कर्म के अन्त के साथ अनन्त आत्म-शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। ये तो प्रमुख शक्तियां हैं, इनके सिवाय और भी आत्मा के अनन्त गुण प्रकट होते हैं।

अरिहंत भगवान् तो पूर्वभव से ही अवधिज्ञान साथ ले कर गर्भ में आते हैं। तीर्थंकर पद प्राप्त करने वाली जगदुद्धारक महान् आत्मा, पूर्वभव से ही बहुत उच्च एवं प्रभावोत्पादक विशेषताएँ साथ ले कर आती है। सभी प्रकार की पुण्य प्रकृतियों में 'तीर्थंकर नाम-कर्म' की प्रकृति महान् अभ्युदय वाली है। इस पुण्य-प्रकृति का स्वामी शरीर, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, इन्द्रियाँ, बल, रूप, मनोबल, ज्ञान, विज्ञान, यश, सुख, एवं अन्य उत्तम सामग्री से युक्त होता है। उनकी जाति, कुल, माता-पिता तथा अन्य स्वजनादि और आर्थिक स्थिति उत्तम होती है। पूर्वभव की महान् साधना के चलते, विशुद्ध भावों की प्रबलता में ऐसे शुभ कर्मों का संचय होता है कि

जिससे सभी सामग्री उत्तम प्रकार की प्राप्त करते हैं +। जब किसी के शुभोदय का योग होता है, तो विपरीत परिस्थिति भी अनुकूल बन जाती है और स्वाभाविक रीति से शुभ शकुन होते हैं। तीर्थंकर जैसे उत्तम प्राणी के गर्भ में आते समय माता को उत्तम प्रकार के १४ महा स्वप्न आते हैं। ये स्वप्न इस प्रकार के होते हैं.—

१ सर्वांग सुन्दर हाथी २ बैल ३ शार्दुल सिंह ४ लक्ष्मीदेवी, ५ दो पुष्पमालाएँ ६ पूर्ण चन्द्र ७ सूर्य ८ ध्वजा ९ पूर्ण कलश १० पद्म सरोवर ११ क्षीर समुद्र १२ देव-विमान १३ रत्नों का ढेर और १४ निर्धूम अग्नि।

तीर्थंकर भगवंत, माता के गर्भ में या तो देवलोक से आते हैं, या नरक से। देवलोक से आवे, तो किसी भी विमानिक देवलोक से आ सकते हैं और नरक से आवे तो तीसरे नरक तक के आ सकते हैं। उनमें सम्यग्दृष्टि और अवधिज्ञान तो पूर्वभव से साथ आता ही है।

उपरोक्त चौदह स्वप्न, उत्तम फल के सूचक हैं। श्री

+ इसमें भी तरतमता होती है। कोई विशाल राज्य का स्वामी चक्रवर्ती होते हैं, तो कोई छोटे राज्य के राजकुमार होते हैं। किसी के स्त्री-पुत्रादि होते हैं और दीर्घ-काल तक संसार में रहते हैं, तो किसी के स्त्र्यादि नहीं होते। वे थोड़े काल संसार में रह कर दीक्षित हो जाते हैं। यह सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार होता है, तथापि तीर्थंकर नाम-कर्म को ले कर आई हुई आत्माएँ अपने समय की सर्वोच्च एवं विशिष्ठ शुभोदय वाली होती है।

भगवती सूत्र में इन्हें 'महास्वप्न' बतलाये हैं। ये स्वप्न उन्हीं परम सौभाग्यवती माताओं को आते हैं, जिनके गर्भ में या तो संसार पर एक छत्र शासन करने वाला चक्रवर्ती महान् सम्राट आने वाला हो, या फिर धर्म-चक्रवर्ती लोकनाथ, विश्वेश्वर का आगमन हो। संसार पर शासन करने वाले चक्रवर्ती के पुण्योदय से भी उत्तमोत्तम प्रकार का पुण्योदय, धर्म-चक्रवर्ती–तीर्थंकर भगवान् का होता है। इसका प्रभाव उनकी माताओं के स्वप्न पर भी पड़ता है। संसार पर शासन करने वाले चक्रवर्ती सम्राट की माता भी चौदह स्वप्न देखती है, परंतु वह कुछ धूंधले देखती है, और जिनेश्वर की माता बहुत ही स्पष्ट रूप से देखती है।

जिनेश्वर भगवन्त का जन्मोत्सव, देव-देवी भी मनाते हैं। इसका विस्तार से वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में है।

अतिशय

'तीर्थंकर नाम कर्म' के उदय वाली आत्मा में निम्न प्रकार की विशेषताएँ–'अतिशय' होते हैं।

१ मस्तक तथा दाढ़ी-मूंछ के बाल नहीं बढ़ कर अवस्थित ही रहते हैं।

२ उनका शरीर नीरोग तथा निर्मल रहता है।

३ रक्त और मांस दूध की तरह श्वेत होता है।

४ श्वासोच्छ्वास में कमल के पुष्प व उत्तम सुगन्धित द्रव्य जैसी सुगन्ध निकलती है।

५ आहार और नीहार गुप्त होता है।

६ जिस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट के साथ, दुश्मन को दमन करने वाला चक्र-रत्न रहता है, उसी प्रकार धर्म-चक्रवर्ती हो जाने पर भगवान् के आगे आकाश में, धर्म-चक्र रहता है।

७ भगवान् के ऊपर आकाश में तीन छत्र रहते हैं।

८ दोनों ओर श्वेत चामर वींजते हैं।

९ भगवान् के बैठने के लिये स्फटिक रत्नमय और पाद-पीठिका युक्त उत्तम सिंहासन होता है।

१० भगवान् के आगे एक बहुत ऊँचा इन्द्रध्वज होता है, जो अन्य हजारों छोटी-छोटी पताकाओं से परिमण्डित होता है।

११ भगवान् जहाँ ठहरते हैं, वहां देव द्वारा एक सुन्दर एवं सुशोभित अशोक वृक्ष प्रकट होता है।

१२ भगवान् के मस्तक के पीछे एक तेजोमण्डल = प्रभा-मण्डल होता है, जिससे अन्धकार का नाश हो कर प्रकाश फैलता है।

१३ भगवान् के विहार-स्थल की ऊबड़खाबड़ भूमि भी समतल हो जाती है।

१४ मार्ग में यदि काँटे पड़े हों, तो वे ओंधे हो जाते हैं।

१५ ऋतु अनुकूल हो जाती है।

१६ भगवान् के गमन-क्षेत्र अथवा स्थिति-स्थान के चारों ओर सुगन्धित वायु द्वारा एक योजन पर्यन्त चारों ओर भूमि शुद्ध हो जाती है।

१७ मन्द-मन्द वर्षा हो कर धूल दब जाती है।

१८ देवता, घुटने तक ऊँचे, सुन्दर एवं सुगन्धित अचित्त पुष्पों के ढेर रचते हैं।

१९ विहार-स्थल में अमनोज्ञ शब्द, रस, गन्ध, रूप और स्पर्श नहीं रहते– दूर हो जाते हैं।

२० मनोज्ञ एवं उत्तम शब्दादि प्रकट होते हैं।

२१ धर्म-देशना देते समय भगवान् का स्वर अतिशय हृदयस्पर्शी होता हुआ एक योजन तक सुनाई देता है।

२२ भगवान् अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं।

२३ भगवान् की वाणी का यह प्रभाव होता है कि उसे सभी देशों के विविध भाषाभाषी मनुष्य और पशु-पक्षी तथा देव, अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं।

२४ भगवान् के समवसरण में पहुँचने वाले अपने जन्मजात अथवा व्यक्तिगत वैरभाव को भूल कर शान्त चित्त हो कर धर्मोपदेश का श्रवण करते हैं।

२५ भगवान् के समीप आने वाले अन्यतीर्थी भी भगवान् के प्रभाव से झुक कर वन्दन-नमस्कार करते हैं।

२६ यदि वे अन्यतीर्थी, वाद करते हैं, तो निरुत्तर हो जाते हैं।

२७ भगवान् के विहार-स्थल के आस-पास सौ-सौ कोस तक धान्यादि को चूहे आदि जीवों से हानि नहीं होती।

२८ " प्लेग आदि जनसंहारक रोग नहीं होते।

२९ " राज्य की ओर से अत्याचार नहीं होता ।

३० " अन्य राजादि के आक्रमण का भय नहीं रहता ।

३१ " अतिवृष्टि नहीं होती ।

३२ " अनावृष्टि नहीं होती ।

३३ " दुष्काल नहीं पड़ता ।

३४ " यदि पहले किसी प्रकार का उपद्रव हो रहा हो, तो भगवान् के पधारने पर वह शान्त हो जाता है ।

उपरोक्त चौतीस अतिशयों से युक्त तीर्थंकर भगवान् होते हैं । इन अतिशयों में क्रमाङ्क २ से ५ तक के निम्न चार अतिशय तो जन्म से ही होते हैं,—

१ शरीर स्वस्थ और निर्मल रहना २ रक्त और मांस, दूध के समान श्वेत होना, ३ सुगन्धित श्वासोच्छ्वास और ४ आहार-नीहार दिखाई नहीं देना ।

शेष ३० अतिशय घाति-कर्मों के क्षय ● हो जाने पर होते हैं । उनमें से क्रमाङ्क २१ से ३४ तक के चौदह तथा प्रभा-मण्डल (क्रमांक १२) ये पन्द्रह अतिशय, घाति-कर्म के क्षय से

● 'कर्म क्षय से' कहने के बजाय, 'तीर्थंकर नामकर्म के उदय से' —कहना उचित लगता है । यदि कर्मक्षय से अतिशयों का होना माना जाय, तो सभी केवल ज्ञानियों के ३० अतिशयों का होना भी मानना पड़ेगा । वास्तव में भौतिक विशेषताएँ पुण्य-प्रकृति के उदय से प्राप्त होती है । इसका तीर्थंकर के जन्म के समय किंचित् उदय होता है, उससे चार अतिशय होते हैं, और घाति-कर्म नष्ट होने के बाद तीर्थंकर नामकर्म का पूर्ण रूप से उदय हो जाता है, जिससे शेष ३० अतिशय होते हैं ।

तीर्थंकर नामकर्म रूपी महान् पुण्य-प्रकृति के पूर्ण रूप से उदय होने पर, अपने-आप होते हैं और शेष पन्द्रह अतिशय (क्रमांक २, ६ से ११ और १३ से २० देवकृत होते हैं।

यों तो तीर्थंकर नामकर्म के विपाक-उदय का प्रारंभ, पूर्वभव से चवन या उद्वर्त्तन से ही हो जाता है। उसी के प्रभाव से उत्तम स्थान पर उत्पत्ति, माता को स्वप्न-दर्शन, देवों द्वारा जन्मोत्सवादि होता है, किंतु यह उदय प्राथमिक एवं आंशिक है। उपरोक्त अधिकार ही यह स्पष्ट कर रहा है कि शेष ३० अतिशय तभी होते हैं, जब कि वे १३ वें गुणस्थान को प्राप्त कर के तीर्थंकर नाम को सार्थक करें। जब तक वे अपने घाति-कर्मों को नष्ट कर के केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक वे तीर्थस्थापना भी नहीं करते और जब तक तीर्थस्थापना नहीं करते, तब तक वे भाव तीर्थंकर भी नहीं होते। तीर्थंकरत्व की प्राप्ति के पूर्व (पूर्वभव, गर्भ, जन्म आदि) अवस्था में उन्हें तीर्थंकर तरीके बताया जाता है, वह 'नैगम नय' की अपेक्षा से है। यह नय भविष्य में उत्पन्न होने वाले भाव का वर्तमान में आरोपण कर के और तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध रूप अंश को ग्रहण करके भी उपयोग कर सकता है। यह नय बहुत ही अशुद्ध है। यह व्यवहार नय की भी उपेक्षा कर देता है। इस प्रकार नैगम नय से, अन्य गति में रहे हुए, गर्भस्थ एवं संसारस्थ को भी तीर्थंकर कह सकते हैं किंतु जहाँ आदर-सत्कार तथा वन्दना नमस्कार का प्रसंग उपस्थित होता है, वहाँ प्राप्त गुणानुसार ही व्यवहार होता है। वहां नैगमनय की नहीं, व्यवहार नय की मुख्यता है। गृहस्था-

वस्था में एक उत्तम गृहस्थ के रूप में, अथवा राजकुमार, राजा या चक्रवर्ती के रूप में और इस से भी बढ़ कर भावी तीथपति जानकर भी आदर-सत्कार होता है। गृहत्याग के बाद एक सर्वत्यागी निर्ग्रंथ के रूप में और घातिकर्मों को नष्ट कर तीर्थ-प्रवर्तन के बाद तीर्थपति के रूप में वन्दनादि होते हैं। अतिशयों का प्रकटीकरण भी गुणोत्पत्ति से ही होता है। जन्म-जात चार अतिशय, केवल शरीर से ही सम्बन्ध रखते हैं। ये अतिशय भी सर्वसाधारण के नहीं होते, तीर्थंकर नामकर्म के उदय वाले के होते हैं। शेष ३० अतिशय, नामकर्म के पूर्ण उदय के बाद ही प्रकट होते हैं और तीर्थंकर नामकर्म का पूर्ण रूप से उदय तो घातिकर्मों के क्षय के बाद ही होता है।

तीर्थंकर भगवान् गृहस्थ पर्याय में रहते हुए स्वयं भी उचित व्यवहार का पालन करते हैं। वे अपने माता-पिता को, एक आदर्श पुत्र की भाँति वन्दन-नमस्कार करते हैं। यह उनकी स्थिति के योग्य ही है। उनमें उस समय वे गुण प्रकट नहीं हुए, जिससे वे माता-पिता के वन्दक मिट कर स्वयं वदनीय बन जाएँ, परन्तु जब संसार त्याग कर सर्वत्यागी निर्ग्रंथ हुए कि वे संसारस्थ माता-पिता के लिए भी वन्दनीय हो जाते हैं। माता-पिता जन्म समय से ही जानते हैं कि हमारे पुत्र, भविष्य में तीर्थंकर होंगे–अवश्य होंगे, फिर भी वे उन्हें संसार अवस्था में वन्दनादि नहीं करते हैं, उलटा भावी तीर्थंकर ही माता-पिता को वन्दनादि करते हैं। यह 'गुणपूजा' का ही प्रबल उदाहरण है।

वचनातिशय

महान् आत्मा की शारीरिक सम्पत्ति भी अलौकिक होती है और वाणी-व्यवहार भी अपूर्व होता है। आत्मा उच्च कोटि का तो हो, उसमें दूसरे लोगों पर प्रभाव डालने के लिए शारीरिक तथा वाणी का प्रभाव भी होना अत्यावश्यक है। बिना इसके आत्मा, अपना कल्याण तो साध सकती है, किंतु दूसरों को विशेष प्रभावित नहीं कर सकती। तीर्थंकर भगवान् तीन लोक में सर्वोत्तम महापुरुष होते हैं। उनका प्रभाव भी महान् होता है। जिस प्रकार उनकी आत्मा महान् होती है, उसी प्रकार शरीर-सम्पत्ति भी महान् होती है और वाणी भी प्रभावयुक्त, निम्न ३५ अतिशयों से सम्पन्न होती है।

१ संस्कारित वचन—भाषा और व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष वचन।

२ उदात्तस्वर—उच्च प्रकार की आवाज, जो एक योजन तक पहुँच सके।

३ उपचारोपपेत—उत्तम प्रकार के विशेषण से युक्त।

४ गंभीरता—मेघगर्जन के समान प्रभावोत्पादक एवं अर्थ-गांभीर्य युक्त।

५ अनुनादित—प्रतिध्वनि युक्त।

६ दाक्षिणत्व—सरलता।

७ उपनीतरागत्व—मालवकोशिकादि रागयुक्त, श्रोताओं को तल्लीन कर देने वाला स्वर।

८ महार्थत्व–थोड़े शब्दों में महान् अर्थ होना।

९ पूर्वापर अबाधित–पूर्वापर विरोध नहीं होना।

१० शिष्टत्व–अभिमत सिद्धांत प्रतिपादन अथवा शिष्टता सूचक वचनों का उच्चारण करना।

११ असन्दिग्धता–स्पष्ट एवं निःसन्देह कथन।

१२ अदूषित–भाषा दोष रहित।

१३ हृदयग्राहित–कठिन विषय भी सरल हो कर श्रोताओं के हृदय में उतर जाना।

१४ देशाकालनुरूप–देश और काल के अनुरूप वचन एवं अर्थ कहना।

१५ तत्त्वानुरूपता–वस्तुस्वरूप के अनुकूल वचन।

१६ सार वचन–व्यर्थ के शब्दाडंबर से रहित और उचित विस्तार युक्त।

१७ अन्योन्यप्रग्रहीत–पद और वाक्यों का सापेक्ष होना।

१८ अभिजातत्त्व–भूमिका के अनुसार विषय और वाणी होना।

१९ अति स्निग्ध मधुर–कोमल एवं मधुर वाणी, जो श्रोताओं के लिए सुखप्रद एवं रुचिकर हो।

२० अपरमर्मवेधित–दूसरों के छुपाये हुए मर्म को प्रकट नहीं करने वाली।

२१ अर्थ धर्मोपेत–श्रुत-चारित्र धर्म और मोक्ष के अर्थ सहित वाणी।

२२ उदारत्व–शब्द और अर्थ की महानता युक्त।

२३ पर निन्दा स्वात्म प्रशंसा रहित ।

२४ उपगत श्लाघत्व–खुशामदी वचनों से रहित ।

२५ अनपनीतत्त्व–कारक, काल, लिंग आदि के विपर्यास रूप दोष से रहित ।

२६ उत्पादितादि विछिन्न कुतूहलत्व–श्रोताओं में निरन्तर कुतूहल बनाये रखने वाली ।

२७ अद्भुतत्त्व– अभूतपूर्व एवं हर्ष विस्मयकारी ।

२८ अनतिविलम्बितत्त्व–धाराप्रवाह रूप से बोलना ।

२९ विभ्रमविक्षेप–किलिंकिंचितादि विप्रयुक्तत्त्व–प्रतिपाद्य विषय में वक्ता में भ्रान्ति, अरुचि, रोष, भय आदि का नहीं होना ।

३० विचित्रत्व–वाणी में विषय की विविधता से विचित्रता होना ।

३१ अहितविशेषत्व–अन्य वक्ताओं की अपेक्षा विशेषता–विशेष आकर्षण होना ।

३२ साकारत्व–वर्ण, पद और वाक्यों का भिन्न-भिन्न होना ।

३३ सत्वपरिगृहीतत्व–वाणी का प्रभावोत्पादक एवं ओजस्वी होना ।

३४ अपरिखेदित्व–उपदेश देते हुए खेद नहीं होना ।

३५ अव्युच्छेदित्व– विषय को सिद्ध किये बिना बीच में नहीं छोड़ना ।

इस प्रकार पेंतीस प्रकार की विशेषताओं से अरिहंत भगवान् की वाणी बड़ी प्रभावशाली होती है ।

तीर्थंकर नामकर्म की विशेषता

तीर्थंकर भगवन्त के अतिशयों का वर्णन पढ़ सुन कर कई तर्क-प्रिय बन्धु सन्देहशील हो जाते हैं और वे उलटा प्रचार करने लगते हैं। एक भाषाविद् ने अतिशयों के विपरीत कई प्रकार के तर्क खड़े कर के जनता में कुश्रद्धा फैलाई और भावुक उपासकों के हृदय में से श्रद्धा को मिटाने का कुप्रयत्न किया। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस प्रकार की विशेषता संभव दिखाई देगी।

प्रत्यक्ष में अधिकांशतः साधारण वस्तु ही सर्वत्र दिखाई देती है, असाधारण वस्तु सभी जगह एवं सभी काल में नहीं मिल सकती। सन् १९५० की जनवरी में, मोरवी की गोशाला में, स्व. नगर सेठ श्री वीकमचन्द भाई ने मुझे एक गाय बतलाई थी और कहा था कि—"यह गाय न तो कभी गर्भवती हुई और न इसके बच्चा ही हुआ, किंतु यह सदैव दूध देती रहती है। इसे हम जंगल में चरने को भी नहीं भेजते, यह यहीं रहती है।" इस बात को बहुत से लोग नहीं मानते होंगे, क्योंकि उन्होंने ऐसी गाय कभी देखी ही नहीं।

बहुत से पुरुषों के मुंह और शरीर पर बहुत बाल होते हैं, और किसी के होते ही नहीं। स्त्रियों के मुंह पर दाढ़ी मूंछ की जगह बाल नहीं होते, किंतु किसी-किसी के होते भी हैं। बहुत से पुरुषों के नाक, आँखें, ललाट और ओष्ट को छोड़ कर शेष सारा मुंह, घने बालों से भरा रहता है और कोई-कोई पुरुष

ऐसे भी हैं कि जिनकी मूंछ के बाल थोड़े व छोटे ही रहते हैं, तब तीर्थंकर भगवंत के दाढ़ी और मूंछ के बाल प्रमाणोपेत और शोभनीय हों, तो इसमें असंभव क्या है ? किंतु एक विद्वान ने इसको भी केवल 'भक्त कल्पना' बता कर कुश्रद्धा फैला दी ।

मनुष्यों के शरीर में से विविध प्रकार की गन्ध निकलती है, किसी के सुगन्ध तो किसी के दुर्गन्ध । दुर्गन्ध होने में, कुत्सित आचार-विचार तथा खान-पानादि भी निमित्तभूत हैं और शरीर नामकर्म के साथ दुरभिगन्ध नामकर्म मुख्य कारण है, तथा सुगन्धित होने में सदाचार, उत्तम विचार, सात्विक खान-पान और शरीर नामकर्म के साथ सुरभिगन्ध नामकर्म का उदय कारणभूत होता है । अशुभोदयवाले के शरीर और श्वासोच्छ्वास से दुर्गन्ध और शुभोदयवाले के शरीर तथा श्वासोच्छ्वास से सुगन्ध आना स्वाभाविक है, तब तीर्थंकर नामकर्म के उदय वाली महान् आत्मा के शरीर और श्वासोच्छ्वास से उत्तम सुगन्ध आना असंभव कैसे है ?

तीर्थंकर भगवान् के विचार, आशय एवं अध्यवसाय बहुत पवित्र होते हैं । उनका शरीर भी अन्य मनुष्यों से सर्वोत्तम होता है । परम प्रशस्त अध्यवसायों के कारण उनके रक्तादि दूध के समान श्वेत एवं मधुर होना असंभव नहीं है । उत्तराध्ययन अ० ३४ में शुक्ललेश्या के वर्णन में **"खीरपुरसमप्पभा"** तथा **"खीररसोखंडसक्कररसो वा"** लिखा है, वह उचित ही है और तीर्थंकर भगवान् के शरीर की

रक्तादि धातु का दूध के समान होना सिद्ध करता है। इस विषय में यह भी उदाहरण दिया जाता है कि–माता के गर्भ में बालक होता है, तो संतान के प्रति स्नेह के कारण, माता के रक्त से अपने आप दूध बनना प्रारंभ होता है। माता के हृदय में केवल एक बालक के प्रति प्रीति होने से शरीर के अमुक भाग में ही दूध की उत्पत्ति होती है, किंतु तीर्थंकर भगवान् के हृदय में तो समस्त प्राणियों के प्रति दया-भाव होता है **"सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकम्पी"** (उत्तरा. २१) तथा **"सव्वजगजीव-वच्छले"** (प्रश्नव्याकरण २–१) समस्त जीवों के प्रति दया तथा वत्सलता होने से प्रभु के समस्त शरीर का रक्त दूधमय होना युक्तियुक्त है।

देवगति और देवों का अस्तित्व मानने पर, तीर्थंकर भगवान् पर तीन छत्र एवं चामरादि अतिशयों का होना अपने आप सिद्ध हो जाता है। वैसे ज्योतिषी देवों के अस्तित्व के विषय में तो विज्ञान भी कुछ-कुछ अनुमान बाँध रहा है। इस समय इस क्षेत्र में विषम काल तथा प्राणियों के अशुभोदय की तीव्रता के कारण प्रत्यक्ष देवदर्शन नहीं हो रहा है, तो इससे देव-सृष्टि का अभाव नहीं मान लेना चाहिए।

म. गांधीजी अपने समय के प्रभावक पुरुष थे। उनसे मिलने के लिए विदेशी लोग भारत आते थे। किसी ऐसे वैसे साधारण मनुष्य से मिलने के लिए कोई विदेशी, हजारों मिल चल कर यहाँ नहीं आता, तब तीर्थंकर भगवान्

तो परम उत्कृष्ट पुण्योदय सम्पन्न होते हैं। उनके दर्शन और सेवा के लिए देव, पृथ्वी पर आवें और ऐसे अतिशयों से प्रभावना बढ़ावें, तो असंभव नहीं है। जो अतिशयों में अविश्वासी हैं, वे कर्म-सिद्धांत के प्रति भी अविश्वासी हैं, क्योंकि वे तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति एवं उसके फल के विषय में शंकाशील हैं।

म० गांधीजी के जाने से नोआखली आदि के उपद्रव कुछ शान्त हो जाते हैं, तो भगवान् के प्रताप से देव, मनुष्य और तिर्यंचकृत उपद्रव तथा प्राकृतिक अशुभ संयोग मिटें तथा शांति फैले, तो इसमें सन्देह नहीं होना चाहिए।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'सभी उत्तम वस्तुएँ सभी काल में एवं सर्वत्र विद्यमान नहीं रहती। जिस प्रकार मर्यादा-पुरुष राम, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, दृढ़प्रतिज्ञ भीष्मपितामह आदि का उनका एक जमाना था। वीर अर्जुन जैसा सर्वोपरि धनुर्धर अन्य कोई नहीं था, इन सब में अपने समय की एक खास विशेषता एवं अद्वितीयता थी, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् में भी अपनी एक खास और परमोत्कृष्ट विशेषता होती है। अतएव तीर्थंकरों के अतिशयों के विषय में अविश्वासी नहीं होना चाहिए।

प्रभामण्डल का होना और उससे प्रकाश फैलना भी असत्य नहीं है। मनमानी युक्ति और तर्क पर ही आधार रखने और परोक्ष विषयों पर विश्वास नहीं करने वाले बुद्धिमानों में से भी कोई-कोई इस अतिशय को स्वीकार करने लगे हैं। म० भगवानदीनजी ने 'मेरे साथी' नामक पुस्तक के पृ. १२५ पर

श्री वीरचन्द राघवजी गांधी का परिचय देते हुए लिखा है कि–

"कितना आकर्षण रहा होगा उस वीरचंद राघवजी गांधी में। जिस वक्त मेसॉनिक टेम्पिल में हिप्नाटिझम् पर बोलते हुए उनने लोगों से कहा कि कमरे की बत्तियाँ हलकी करदी जायँ और जैसे ही हलकी हुई कि उस सफेद कपड़ेवारी हिन्दुस्तानी की देह से एक आभा चमकने लगी और उसकी पगड़ी ऐसी मालूम होने लगी, मानो उस आदमी के चेहरे के पीछे कोई सूरज निकल रहा हो और जिसे देख कर अमेरिका-वासियों का कहना था कि वह उस आभा को न देख सके, उनकी आँखें बन्द हो गई और थोड़ी देर के लिए एसा मालूम हुआ माना वे सब समाधि अवस्था में हों।"

जब जिनोपासक–जैनी की करामात से या योग के चमत्कार से प्रभामण्डल जैसा दृश्य बन कर उपस्थित अमरिकनों को आश्चर्य में डाल देता है, तब जिनेश्वर भगवन्त के महान् पुण्य-प्रकृति के प्रभाव से प्रभामण्डल हो और उसके द्वारा प्रकाश फैले, तो इसमें सन्देह क्यों होना चाहिए ?

कुछ वर्षो पूर्व की बात है। 'श्री अरविंद घोष' की मृत्यु के समाचार, राष्ट्र के सभी दैनिक पत्रों में छपे थे। उनके निर्जीव शरीर के चमत्कार के विषय में ता. ९–१२–१९५० के "नवभारत टाइम्स" बम्बई के सम्पादकीय विचार में–'शव का चमत्कार' शीर्षक से लिखा था कि–

"योगियों की शारीरिक और मानसिक स्थिति जन-सामान्य से भिन्न होती है, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण योगीराज

अरविंद घोष का शव है, जो निष्प्राण होने पर भी एक ऐसी अलौकिक आत्मा से प्रकाशमान है कि उसके कारण उनकी अन्त्येष्टि क्रिया स्थगित कर दी गई। जो लोग केवल भौतिक बातों को मानने और समझने के आदि हैं, उन्हें इस प्रकार आध्यात्मिक घटना से पाठ ग्रहण करना चाहिये और सदा के लिए यह बात गांठ बाँध लेनी चाहिए कि संसार में अभी बहुत-से ऐसे चमत्कार भरे पड़े हैं जिनका रहस्य विज्ञान या आधुनिक युग नहीं खोल सका है। चर्म-चक्षुओं से दिखाई देने वाली बातें ही सब कुछ नहीं हुआ करती। इस जगत् के परे भी कुछ है और आध्यात्मिक जगत् में विचरण करने वाली विशिष्ठ आत्माएँ ही उनकी थाह पा सकती हैं—पदार्थवादी वैज्ञानिक नहीं। योगीराज ने अपने जीवनकाल में तो अपने शिष्यों और सच्चे जिज्ञासुओं को वह चमत्कार दिखाया ही, अब शरीरान्त के बाद भी उनकी आत्मा अपना चमत्कार दिखा रही है।"

यदि हम आस्तिक बन कर, जिनागमों के प्रति श्रद्धा रख कर विचार करें तो अरिहंत भगवन्तों के अतिशयों के विपरीत फैलाई हुई भ्रमणा दूर हो सकती है।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी

जिनेश्वर भगवंत अपने पूर्व-भव से ही अवधिज्ञान ले कर, माता के गर्भ में आते हैं। वे जब तक गृहस्थावस्था में रहते हैं, तब तक मति, श्रुत और अवधि, इन तीन ज्ञान सहित होते हैं और जब संसार त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं, तब

चौथा मनःपर्यव ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। चार ज्ञान युक्त होने पर भी उन पर ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण तो रहता ही है, किंतु जब वे अपने विशुद्ध संयम-तप से यथाख्यात चारित्र प्राप्त कर के घातिकर्मों को नष्ट कर देते हैं, तब उन्हें केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होती है। इससे वे लोकालोक के त्रिकालवर्ती समस्त भावों को (अनन्त द्रव्यों की बीती हुई, वर्तमान और भविष्य में होने वाली समस्त-अनंतानंत पर्यायों को) हाथ में रही हुई वस्तु की तरह प्रत्यक्ष जानते देखते हैं। विश्व का ऐसा कोई भी स्थान, वस्तु तथा वस्तु की अवस्था ऐसी नहीं बचती जो उनके ज्ञान में नहीं आ कर छुपी रहे। इसके पूर्व जो उनमें चार ज्ञान थे, वे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से सम्बंधित थे, किंतु केवलज्ञान तो क्षायक है। ज्ञान-दर्शन के समस्त आवरणों के क्षय हो जाने पर ही होता है। केवलज्ञान होने पर पूर्व के चार ज्ञान नहीं रहते, किंतु अकेला केवलज्ञान ही रहता है।

इसीलिए केवलज्ञानी में अकेला एक केवलज्ञान ही माना है। केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति के बाद जिनेश्वर भगवान् द्वारा तीर्थ-स्थापना होती है। तब वे भाव तीर्थंकर होते हैं। भाव—वास्तविक दृष्टि से वे गृहस्थावस्था में राजा या राजकुमार होते हैं। संसार त्याग करने पर साधु होते हैं। घातिकर्मों का क्षय करने पर अरिहंत और तीर्थ स्थापना करने पर तीर्थंकर होते हैं।

हमारे जानने-देखने के लिए आँख, कान आदि इन्द्रियों

और मन का साधन होता है। बिना इन्द्रिय और मन की सहायता के हम किसी वस्तु को नहीं जान-देख सकते। किन्तु केवलज्ञानियों के लिए इन्द्रियों या मन की सहायता से जानने की आवश्यकता नहीं रहती। उनकी आत्मा इतनी उज्ज्वल होती है कि जिसमें सभी ओर की वस्तुओं के भाव अपनेआप प्रत्यक्ष हो जाते हैं। देखने और जानने का प्रयत्न ही नहीं करना पड़ता। जिस प्रकार स्फटिक-रत्न अथवा स्वच्छ, निर्मल एवं निरावरण गोल दर्पण में सभी दिशाओं की वस्तुओं का प्रतिबिम्ब, अपने-आप पड़ जाता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान में भी विश्व के सभी भाव अपने-आप व्यक्त हो जाते हैं।

केवलज्ञान आत्मा की ही वस्तु है और सभी आत्माओं में गुप्त रूप से यह शक्ति दबी पड़ी है। इसकी प्राप्ति सुलभ नहीं है। जिस प्रकार एक वृद्ध, रोगी एवं असहाय दरिद्र के लिए चक्रवर्ती का राज्य पाना कठिन है, उससे भी अधिक कठिन अपनी आत्मा में दबी हुई सर्वज्ञता को प्रकट करना है।

बहुत-से लोगों को तो अपनी इस महान् निधि का ज्ञान ही नहीं है। बहुत-से सुन कर भी विश्वास नहीं करते। उनकी दृष्टि में सर्वज्ञ होना असंभव लगता है।

कितने ही कार्य ऐसे होते हैं जिनका करना सर्व-साधारण के लिए सम्भव नहीं होता। अपनी मानी हुई दुनिया के अरबों मनुष्यों में से कोई एक ही कर सकता है। जैसे रेडियो, रेडियो-चित्र, कृत्रिम उपग्रहादि, जब तक इनकी खोज नहीं

हुई तब तक ये कार्य असंभव ही नहीं, अशक्य ही लगते थे। इन कार्यों की खोज करने वाला पहले तो एक-एक व्यक्ति ही हुआ। पहले उस व्यक्ति के हृदय में दृढ़ विश्वास जमा, फिर दृढ़ संकल्प के साथ वह जुट गया। अनेक बार की असफलता के बाद उसे सफलता मिली। जिस समय उसने अपने दृढ़ संकल्प के साथ कार्य आरंभ किया होगा, उस समय उसे अन्य लोगों ने मूर्ख, अन्धकार में दौड़ने वाला और सनकी माना होगा। उसके अपने कुटुंबी और मित्र भी उससे मतैक्य नहीं रखते होंगे। किन्तु जब वह अपने ध्येय में सफल हुआ, तब संसार ने आश्चर्य प्रकट किया और बाद में उस राह पर चलने वाले बहुत-से तय्यार हो गए। ठीक ऐसी ही हालत सर्वज्ञता के विषय में है। जब संसार के किसी भाग में एक भी सर्वज्ञ नहीं होता, तब लोग परोक्ष सर्वज्ञ पर विश्वास करते हिचकते हैं और अविश्वास व्यक्त करते हैं, इतना ही नहीं, जब सर्वज्ञ साक्षात् मौजूद होते हैं, तब भी कई लोग विश्वास नहीं करते। इसका कारण यह कि सर्वज्ञता आत्मा की अरूपी वस्तु है। सर्वज्ञता का कोई बाहरी चिन्ह नहीं होता। गांगेय अनगार ने भगवान् महावीर की सर्वज्ञता पर पहले तो विश्वास ही नहीं किया, किन्तु जब अटपटे एवं उलझन भरे प्रश्नों का ठीक समाधान हो गया, तभी उन्होंने भगवान् को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी माना और अधीनता स्वीकार की (भगवती ९–३२)।

मनुष्यों में ऐसी संख्या ही अधिक होती है, जिन्हें अपनी

मात्र-भाषा का भी तलस्पर्शी ज्ञान नहीं हो, अथवा अपने धन्धे का पूरा ज्ञान नहीं हो। ऐसे व्यक्ति थोड़े ही होते हैं, जिनको एक भाषा या एक प्रकार के धन्धे की उच्च प्रकार की जानकारी हो और ऐसे व्यक्ति तो बहुत कम होते हैं, जिन्हें अनेक भाषाओं, विविध प्रकार के उद्योगों और दर्शनों का उच्च ज्ञान हो। ऐसे व्यक्ति करोड़ों में एक-दो ही हो सकते हैं। जब विरल व्यक्ति, अनेक विषयों का ज्ञाता हो सकता है, तो कभी कहीं कोई व्यक्ति सर्वज्ञ क्यों नहीं हो सकता ?

हीरा एक खनिज (पृथ्वीकाय) पदार्थ है, पत्थर की जाति का है। पत्थर तो सर्वत्र पाये जाते हैं, किन्तु सभी पत्थर समान नहीं होते। कुछ मकानों के उपयोग में आते हैं, तो बहुत-से पृथ्वी पर रुलते रहते हैं। किंतु पत्थर की ही जाति का हीरा मूल्यवान हो कर बड़ी संभाल के साथ रखा जाता है। ऐसे हजारों-लाखों हीरों में अभी 'कोहनूर' हीरा सर्वोच्च मूल्यवान् माना जाता है। असंख्य पत्थरों और लाखों हीरों में वह अद्वितीय है। उसकी बराबरी करने वाला कोई दूसरा रत्न नहीं है। किंतु भविष्य में उससे भी बढ़ कर कोई अधिक मूल्यवान रत्न प्रकाश में आ सकता है। यदि कोई कहे कि "भूतकाल में कोहनूर से बढ़ कर कोई हीरा था ही नहीं और भविष्य में होगा भी नहीं," तो यह उसकी अविचारपूर्ण बात होगी। क्योंकि शास्त्रों से पता चलता है कि गुजरे जमाने में 'बहुमूल्य रत्न भी मौजूद थे' और आगे भी ऐसे रत्न प्रकाश में आ सकते हैं। जिसके आगे कोहनूर निम्न श्रेणी का रह

जाय। इसी प्रकार वर्तमान में हमारी दृश्यमान दुनिया में कोई सर्वज्ञ नहीं है, 'तो भूतकाल में कोई हुआ ही नहीं' और 'आगे कोई हो भी नहीं सकता'—ऐसा मानना संकुचित दृष्टि का ही परिणाम होगा।

तात्पर्य यह कि तीर्थंकर भगवंतों की सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता न तो काल्पनिक है और न अतिशयोक्तिपूर्ण ही। यह वास्तविक सत्य है और इसका स्पष्ट प्रमाण उनका तत्त्व निरूपण है। जिनेश्वर भगवंत का तत्त्व-निरूपण विश्व भर के तत्त्व-दर्शकों से सर्वोच्च है। उनके षट-द्रव्य, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, जीवास्ति, पुद्गलास्तिकाय, नव तत्त्व, जीव का सूक्ष्म और बादर रूप, संयोग-संबंध और अयोगी दशा, परमाणु-पुद्गल, उसके स्पर्शादि, जीव और पुद्गल की शीघ्र-गति, शब्द का निकलते ही लोक व्यापी हो जाना, शब्द की पोद्गलिकता, उसका पकड़ा जाना आदि ऐसे अभूतपूर्व रहस्य एवं सिद्धांत है कि जिनमें से कुछ-कुछ प्रत्यक्ष भी हो रहे हैं। उन निर्ग्रंथनाथ ने बिना किसी अनुसंधान या भौतिक प्रयोग के, अपने केवलज्ञान से ही जान कर ऐसे अनुपम सिद्धांत को प्रकट किया है। यह उनकी सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता की स्पष्ट साक्षी है।

यद्यपि सर्वज्ञता आत्मा की ही वस्तु है, आत्मा का निज गुण है, तथापि प्राप्ति सर्वसुलभ नहीं है। इसकी अनुकूलता मनुष्येत्तर प्राणियों में तो है ही नहीं, और मनुष्यों में भी अनेक प्रकार की प्रतिकूलताएँ रही हुई है। जिस प्रकार केसर, सोना,

हीरा आदि वस्तुएँ सभी क्षेत्रों में नहीं होती, किसी खास क्षेत्र में ही होती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ भी अकर्म-भूमि और अन्त-र्द्वीप में उत्पन्न मनुष्य नहीं होते और न अनार्य कुल के ही होते हैं। जिस प्रकार उत्तम फलों की उत्पत्ति अमुक काल में ही होती है, सभी समयों में नहीं होती, उसी प्रकार सर्वज्ञ भी तीसरे और चौथे आरे तथा चौथे के समान वर्त्तने वाले (महाविदेह के) काल के अतिरिक्त अन्य काल में नहीं होते। और जिस प्रकार विरक्त, उदासीन और शोकाकुल पुरुष सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य होता है, उसी प्रकार क्षायिक भाव से रहित मनुष्य सर्वज्ञता के अयोग्य होते हैं। इस प्रकार सर्वज्ञता के लिए प्रतिकूलताएँ बहुत अधिक हैं और अनुकूलताएँ बहुत ही कम हैं।

वर्तमान काल का एक सामान्य उदाहरण लें। हिमालय पर्वत पर चढ़ने का प्रयत्न गत अनेक वर्षों से हुआ और कई राष्ट्रों के बहुत-से मनुष्य चढ़े, उनमें से कई मरे और शेष बीच ही से लौट आए, किन्तु सफल कोई नहीं हो सका था। अन्त में विश्व के सभी मनुष्यों में से श्री तेनसिंग नेपाली और मि० हिलेरी न्यूजिलेंड निवासी ही सफल हुए। अपने माने हुए संसार के अरबों मनुष्यों में से केवल ये दो व्यक्ति ही सफल हुए। इसके पूर्व सभी असफल हुए थे। जिस प्रकार हिमालय पर चढ़ना सब के लिए शक्य नहीं है, संसार के अधिकांश मनुष्य तो हिमालय को जानते ही नहीं और जानने वालों में से अधिकांश मनुष्यों ने हिमालय पर चढ़ने का विचार ही नहीं किया। विचार करने वालों में से बहुत ही कम—नाममात्र

की संख्या प्रयत्न शील हुई, उनमें उपरोक्त दो व्यक्तियों के अतिरिक्त सब के सब असफल ही रहे। यही बात केवलज्ञान के विषय में है। वर्तमान में हम सब के लिए केवलज्ञान की प्राप्ति की अनुकूलता नहीं है। यह अनुकूलता लगभग २५०० वर्ष पूर्व थी और भविष्य में हजारों वर्षों बाद होगी। किन्तु वर्तमान में नही होने से एकान्त नास्ति मान लेना–सर्वज्ञता में अविश्वासी बन जाना, अज्ञानता का परिणाम है, विकृत दृष्टि है।

जब तक कोलम्बस ने अमेरिका की खोज नहीं की, तब तक प्रत्यक्ष-दर्शियों के लिए अमेरिका का अस्तित्व ही नहीं था। उनका संसार इतना बड़ा नहीं था। कोलम्बस ने अमेरिका की खोज कर के भौगोलिक ज्ञान में वृद्धि की। अभी भी यह ज्ञान अधूरा ही है। विश्व का जितना लम्बा-चौड़ा क्षेत्र माना जाता है, उसके बाहर भी विश्व है ही। सोवियत रूस के एक अन्वेषक-दल ने आस्ट्रेलिया और दक्षिण ध्रुव के मध्य एक छोटे से बेट का पता लगाया है। मई ५८ के पूर्व इसका किसी को पता ही नहीं था। तात्पर्य यह कि आज भी ऐसे अनन्त भाव दबे हुए पड़े हैं कि जिनका वर्तमान जगत् के किसी भी मनुष्य को पता नहीं है। ज्ञेय वस्तुएँ अनन्त हैं। उन अनन्त ज्ञेय वस्तुओं का सम्पूर्ण ज्ञाता भी कोई न कोई व्यक्ति, कभी-न- कभी होता ही है। वह ज्ञेय ही क्या कि जिसका ज्ञायक कभी कोई हो ही नहीं।

उसी महान् आत्मा में सर्वज्ञता की महान् सिद्ध हो सकती है–जिनकी आत्मा परम विशुद्ध हो गई हो। जिनमें कषाय

का मैल बिलकुल नहीं हो। जिनकी आत्मा का कषाय रूपी कचरा दबा–उपशान्त ही नहीं हो, किन्तु नष्ट हो गया हो। जिनमें सादि-अनन्त वीतरागता प्रकट हो चुकी हो। उसी परम पवित्र आत्मा में सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता का ईश्वरीय गुण प्रकट हो सकता है। वह परम वीतरागी सर्वज्ञ-सर्वदर्शी आत्मा ही सशरीर ईश्वर है, अरिहंत है।

जिस प्रकार आज कोई सर्वज्ञ दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार आज कोई इस प्रकार का परम वीतराग भी दिखाई नहीं देता। अजैनों के माने हुए आराध्य में तो सरागता स्पष्ट रूप से मालूम होती है। इसलिए परम वीतरागता में वे अविश्वास करें, तो दूसरी बात है, किंतु कोई-कोई जैन पंडित भी इस प्रकार की वीतरागता को नहीं मानते और जाहिर रूप से लिखते हैं कि "मोह–कषायों का नाश नहीं होता, किंतु वे व्यापक बन जाती हैं।" यह अज्ञान का ही परिणाम है। जब तरतमता है, तो अभाव के लिए भी अवकाश रहता है। कषायें उग्रतम भी होती है और मन्दतम भी। कोई इतना उग्र क्रोधी होता है कि सामान्य बात के लिए भी प्राण दे देता और ले-लेता है। तब कोई इतना मन्द कषायी होता है कि दूसरों के द्वारा किए असह्य प्रहारोंको भी शान्तिपूर्वक सहन कर लेता है। ऐसी आत्माएँ तो आज भी दिखाई देती है। इतनी तरतमता तो हम आज भी देखते हैं, तब बुद्धि का सम्यक् उपयोग कर के सोचें तो विश्वास होगा कि 'जब इतनी मन्द कषाय भी होती है, तो कभी कोई

वीतराग–सर्वथा अकषायी भी हुआ ही होगा और आगे भी हो सकता है। ऐसी ही परम वीतरागी आत्मा, परम वीतराग दशा को प्राप्त होने के बाद तुरत ही सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होती है। इस प्रकार परम मान्य आगमों में बताई हुई सर्वज्ञ-सर्वदर्शिता की बात अक्षरशः सत्य है।

अरिहन्त भगवान् का उपदेश

जब तीर्थंकर भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाते हैं, तब उनका उपदेश होता है। उस उपदेश में वे पहले तो आस्तिकता का निरूपण कर के दृष्टि की विषमता दूर करते हैं–सम्यग्दृष्टि प्रदान करते हैं फिर पाप-पुण्य, सुगति-दुर्गति, संसार तथा मोक्ष का स्वरूप बतला कर विरति रूप अनगार-धर्म और अगार-धर्म का उपदेश करते हैं।

आस्तिकता का उपदेश करते हुए वे फरमाते हैं कि– "भव्यों ! लोक है, अलोक है, जीव है, अजीव है, बंध, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर और निर्जरा भी है। अरिहंत, चक्रवर्ती आदि भी होते हैं। देवलोक है और देव भी हैं, नरक है और नैरिये भी हैं। सिद्ध स्थान है और सिद्ध जीव भी है। जीव की संसार से निवृत्ति होती है और जीव मुक्त भी होते हैं। प्राणातिपातादि अठारह पाप-स्थान भी हैं, जिनके सेवन से जीव नरक तिर्यंचादि के दुःख भुगतते हैं और प्राणातिपातादि पापों से निवृत्ति रूप चारित्र का पालन कर के जीव मुक्ति के शाश्वत–अमर सुख अथवा देवलोक के सुखप्रद फल को

प्राप्त करते हैं।"

"सुखार्थियों! निर्ग्रंथ-प्रवचन ही सत्य है, सर्वोत्तम है, अद्वितीय है, पूर्णतः शुद्ध है, परिपूर्ण है, न्याययुक्त है, शल्य को दूर करने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति, निवृत्ति यावत् समस्त दुःखों का अन्त कर के परम सुख की प्राप्ति कराने का मार्ग है। इस मार्ग का अवलम्बन कर के जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होते हैं तथा समस्त दुखों का अन्त कर देते हैं। यदि किसी के कर्म अवशेष रह जाते हैं, तो वे देवलोक में महान् ऋद्धिशाली देव होते हैं। वहाँ के सुखों को भोग कर मनुष्य, हो कर सिद्ध हो जाते हैं।"

जीव किस प्रकार के आचरण से नारक, तिर्यंच और देव होते हैं। नरक, तिर्यंच और मनुष्य भव में होने वाले विविध प्रकार के दुःख और देव-भव के सुख तथा जीव किस प्रकार राग-द्वेष के कारण कर्म-बन्ध में बंधता है और किस प्रकार दुखी होता है, तथा बन्धनों से मुक्त किस प्रकार हो सकता है, ये सब भाव बता कर फिर मोक्ष साधना की विधि रूप अनगार धर्म और अगार-धर्म का उपदेश करते हैं। भगवान् के उपदेश से प्रतिबोध पा कर अनेक जीव, सर्वत्यागी बन कर निर्ग्रंथ जीवन स्वीकार करते हैं और अनेक जीव देश-विरति स्वीकार कर श्रावक-धर्म का पालन करते हैं। उस समय भगवान् साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् जगत् के जीवों का साक्षात् और परम्परा से उपकार करते हैं। आज वे साक्षात्

तो नहीं है, किन्तु उनके उपदेश, जिनागमों में मौजूद हैं। निर्ग्रंथ गुरु उनके बताये हुए मुक्ति मार्ग पर खुद चलते हैं और दूसरों को चला कर परोपकार करते हैं।

ऐसे परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवान् की त्रिकरण-त्रियोग से एकाग्रतापूर्वक भक्ति करने से, तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध हो कर आत्मा स्वयं तीर्थंकर बन जाती है। अरिहन्त भगवान् की भक्ति किस प्रकार की जानी चाहिए, अब इस पर विचार करना है। जैन धर्म की विशुद्ध प्रणाली के अनुसार जिन-भक्ति की विधि है—

पूज्य के प्रति अत्यन्त आदर एवं बहुमान रखना। उनकी वन्दनादि करना और यथाशक्ति आज्ञा का पालन करना।

जिनेश्वर के प्रति आदर भाव तो प्रत्येक जैनी के हृदय में सदा-सर्वदा रहता ही है। एक जैनी, वह भले ही अत्यन्त दरिद्र हो, अथवा राजाधिराज हो, नारकी का क्षुद्रतम जीव हो या इन्द्र-अहमिन्द्र हो, यदि वह सम्यग्दृष्टि है, तो उसके हृदय में जिनेश्वर भगवन्त के प्रति आदर भाव अवश्य ही है। वह अविरत हो और चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से परलक्षी हो कर गृहस्थाश्रम में मनोयोगपूर्वक लगा रहा हो, तो उस समय भी उसके हृदय में जिनेश्वर भगवन्त, उनके परम पावन प्रवचन एवं लोकोत्तर तीर्थ के प्रति कभी भी विपरीत भाव नहीं होगा। जब भी उससे पूछा जाय, वह यही कहेगा कि—'जिनेश्वर

भगवन्त और उनका पवित्र धर्म-शासन ही आराधनीय, वन्दनीय, पूजनीय है। यही वास्तविक निजार्थ है, यही परमार्थ है।' यदि वह महाराजाधिराज है और राज्य का संचालन तथा शत्रु का निवारण कर रहा है, राज्यनियमानुसार अथवा जनरंजनार्थ उनके धर्म पालन में आती हुई बाधाओं को दूर करता है, राज्यकोष तथा सेना आदि में वृद्धि करता है, तथा भोगादि में लगा है, यदि वह इन्द्र है और दैविक भोगों में आसक्त है, उस समय भी कोई उसे पूछे कि–' कहिये, वास्तविक परमार्थ क्या है ?' तो उसके वचन से ही नहीं, मन से भी ये ही उद्‌गार निकलेंगे कि–

"अयमाउसो ! णिग्गंथे पावयणे सच्चे, अयं अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे।"

उनके कहने का भाव यही होगा कि–'आयुष्यमान् बन्धुवर ! जिनेश्वर भगवन्तों का धर्म-शासन ही सत्य है। उनका बताया हुआ शाश्वत सुख का देने वाला मोक्षमार्ग ही सत्य, तथ्य, स्वार्थ और परमार्थ है। इसके सिवाय सभी बातें, सभी विषय, सभी प्रवचन और सभी अभिप्राय, अनर्थकारक है–दुःखदायक है। मैं दुर्भागी हूँ जो, उन परम तारक के बताये हुए परमार्थ का सेवन नहीं कर सकता, उलटा विपरीत मार्ग–संसार-मार्ग पर चल रहा हूँ। संसार बढ़ाने के कार्य कर रहा हूँ। यह मेरी दुर्बलता है, पामरता है, अधम दशा है। मैं आत्म-शत्रु ऐसे मोहोदय के प्रभाव में आ कर अधर्म का आचरण कर रह हूँ। मेरी दशा उस हारे हुए सैनिक जैसी है, जो विजित के प्रति दुर्भाव रखता हुआ भी उसके आदेश का पालन करता है।

मेरी ही गफलत का लाभ उठा कर मोहराज ने मुझ पर अधिकार कर लिया। मुझे गुलाम बना लिया और अपनी इच्छानुसार नचाता है। मुझसे घृणित कार्य करवाता है। आत्म-सम्मान को नष्ट करने जैसी करतूतों में लगाता है। मैं भी उसकी आज्ञा का पालन हँसी-खुशी और उत्साह से करता हूँ। परन्तु मित्र ! मैं जानता हूँ कि ये सारी करतूतें अच्छी नहीं है। अधिकाधिक गुलामी में फँसाने वाली है, यहां तक कि मुझे अपना भान भुला कर मोह की गुलामी में ही रखने वाली और उसी को परम सुख समझाने जैसी निकृष्ट दशा में पहुँचाने वाली है। मेरे दूसरे कई बन्धु, अपने-आपको और अपने सच्चे उपकारी परम तारक जिनेश्वर भगवन्त और उनके लोकोत्तर मार्ग को भूले हुए हैं। कई उस मार्ग को पसन्द ही नहीं करते बल्कि विरोध करते हैं। वे अपनी बन्धावस्था में ही संतुष्ट हैं, और उसी को सुख का सागर माने हुए हैं। उनसे तो मेरी दशा कुछ ठीक है। मैं मित्र को मित्र और शत्रु को शत्रु समझता हूँ। शत्रु के अधिकार में रहते हुए और उसके आदेशानुसार चलते हुए भी हृदय में उसके प्रति धिक्कार भावना रखता हूँ और उस अवसर की प्रतीक्षा में हूँ कि जब मुझ पर शत्रु का दबाव कम हो जाय और जिनेश्वर तथा गुरुदेव जैसे आत्म-हितैषी के अवलम्बन से शक्तिमान बन कर आजाद हो जाऊँ।"

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव, संसार में रहा हुआ, संसार के सभी कार्य करता हुआ भी अपने हृदय में उसे अहितकर मानता है, धिक्कार भावना ही रखता है। जारिणी स्त्री,

संसार की दृष्टि से 'स्वपति' कहलाने वाले के साथ रहती है, वह खाती-पीती, हँसती-खेलती है, किन्तु उसके मन में तो अन्य पुरुष के प्रति ही आदरभाव है। वह मौका पाते ही उसके पास पहुँचना चाहती है। इसी प्रकार संसार में रहा हुआ सम्यग्दृष्टि, संसारियों की दृष्टि में संसारी है, वह चाहता है—संसार से निकल कर असंसारी बनना। अरहन्नक और सुदर्शन श्रावक गृहस्थ थे, व्यापारादि करते थे। वे निर्लोभी निष्परिगृही नहीं थे। फिर भी उनके मन में जिनेश्वरों और उनके धर्म-शासन के प्रति अत्यन्त आदर था। उनके हृदय में धर्म-श्रद्धा वज्र की भाँति दृढ़ जमी हुई थी। अवसर आने पर उस पर जीवन तक न्यौछावर करने के लिए वे तत्पर हो गए थे।

शंका—जब अरहन्नक और सुदर्शन श्रावक, धर्म के लिए जीवन अर्पण करने को तत्पर हो गए थे, तब उपसर्ग दूर होने पर उन्होंने संसार का त्याग क्यों नहीं किया और पुनः संसारी जीवन ही क्यों बिताते रहे? क्या उनके जीवन-वर्णन में अतिशयोक्ति नहीं है?

समाधान—ऐसा होना सहज है—बुद्धिगम्य है। ऐसे पात्र सामान्य जीवन के प्रति तो पूर्ण उदासीन नहीं हुए, किन्तु उनके हृदय में जीवन के प्रति उतना गाढ़ मोह नहीं, कि जो प्राण बचाने के लिए दुराचार को स्वीकार कर लें। अपनी भावना के विपरीत परिस्थिति उत्पन्न होने पर वे प्राण तो दे सकते हैं, पर सामान्य जीवन से ऊपर उठने की उनकी तय्यारी नहीं होती। जैसे—एक सुशीला गृह-पत्नी है। वह ब्रह्मचारिणी

बनने जितनी ऊँची क्षमता तो नहीं रखती और पति के साथ रहना पसंद करती है, किन्तु कभी उसके शील पर आँच आने जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय, तो वह अपना जीवन तक समाप्त कर सकती है। एक योद्धा, युद्ध में विजय प्राप्त कर जिन्दा रहना चाहता है। उसका जीवन के प्रति मोह है। किन्तु पराजित या बन्दी बन कर जीने की अपेक्षा वह मरना ही पसंद करता है। यह अपनी-अपनी परिणति और क्षयोपशम पर निर्भर है। अर्जुनमाली पर कोई संकट नहीं था, उसने सथारा नहीं किया था, फिर भी उसकी परिणति ऐसी पलटी कि वह भगवान् के पास दीक्षित हो गया। किन्तु उस पर प्रभाव डालने वाला और भगवान् का पहले से भक्त बना हुआ सुदर्शन श्रावक, उससे पीछे रह गया, जब कि वह माता-पिता द्वारा मनाते हुए भी नहीं मान कर, संकट के सम्मुख गया था और प्राण त्यागने को तय्यार हो चुका था। यदि पद्मिनी आदि मेवाड़ की नारियाँ संकट से उबर जाती, तो वे अपने पति के साथ जीवन बिताती। किन्तु जब शील पर ही आ बनी, तो उन्होंने कुत्सित जीवन की अपेक्षा प्राण त्याग ही ठीक समझा। तात्पर्य यह कि सुदर्शन तथा अरहन्नक श्रावक में संसार त्याग कर अनगार बनने जितनी तत्परता तो उस समय नहीं आ पाई थी, पर वे धर्म के प्रति अपने दृढ़ विश्वास और निष्छल प्रेम से वंचित भी नहीं रह सकते थे। वे देहवियोग सहन कर सकते थे, पर धर्म-वियोग की बात सोचना भी नहीं चाहते थे।

हां, तो सब से पहले जिनेश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास और

अत्यन्त आदर भाव रखना आवश्यक है। जिसके हृदय में ऐसे भाव होते हैं, वही जिनेश्वर भगवन्तों की भक्ति करता है। अब हम यह देखें कि—जिनेश्वर की भक्ति किस प्रकार की जाय।

प्रत्यक्ष अरिहंत भगवान् की पूजा के विषय में आगमों में अनेक स्थानों पर वर्णन आता है। औपपातिक सूत्र में कुणिक के भगवत्-वन्दन का वर्णन अवलोकनीय है। वहाँ का भाव इस प्रकार है।

महाराजाधिराज कुणिक के हृदय में भगवान् महावीर के प्रति पूर्ण भक्ति थी। वे भगवान् के विहार के समाचार जानने के सदैव इच्छुक रहते थे। इसके लिए उन्होंने कार्यकर्ताओं का एक विभाग खोल रखा था, उसमें अनेक सेवक रखे गये थे, जो भगवान् के विहार स्थल पर जा कर समाचार लाते थे। उन कर्मचारियों के ऊपर एक अधिकारी था। वही सब की व्यवस्था करता और प्राप्त समाचार नरेश को सुनाता। नरेन्द्र के हृदय में भगवान् के दर्शन की इच्छा बनी ही रहती थी। जिस समय भगवान् का शुभागमन चम्पा नगरी में हुआ और इसकी सूचना उन्हें मिली, उस समय वे राज्य-सिंहासन पर बैठे हुए थे। शुभ संवाद पाते ही वे सिंहासन से उतर गये, और भगवान् जिस दिशा में विराजमान थे उस दिशा की ओर सात-आठ पाँव जा कर बैठ गये। उन्होंने दाहिने घुटने को जमीन पर टिका दिया, बायें घुटने को खड़ा रखा, उस पर अपने दोनों हाथ जोड़ कर और सिर झुका कर इस प्रकार स्तुति करने लग—

"नमोत्थुणं अरिहंताणं ....." धर्म की आदि

के कर्त्ता, श्रमण भगवान् महावीर को मेरा नमस्कार हो। अरिहन्त भगवान् तीर्थंकर हैं, स्वयं सम्बुद्ध हैं, पुरुषोत्तम हैं, पुरुषों में सिंह के समान शौर्य सम्पन्न हैं। पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान शोभायमान हैं। गन्धहस्ति के समान प्रभावशाली हैं।"

'भगवन्! आप लोकोत्तम हैं, लोकनाथ हैं, लोकहितैषी हैं, लोकदीपक एवं लोक को प्रकाशित करने वाले हैं। जगत् के जीवों को अभयदान देने वाले, ज्ञान-दृष्टि के दाता, मोक्षमार्ग प्रदाता, शरणदाता, संयमी जीवन प्रदान करने वाले, बोधि-सच्ची समझ देने वाले, श्रुतचारित्र धर्म का दान करने वाले एवं धर्मोपदेश देने वाले हैं।

प्रभो! आप धर्म के नायक-नेता हैं। धर्म के सारथि (धर्म रूपी रथ के चालक और रक्षक) हैं। चतुर्गति रूप संसार का अन्त करने वाले अथवा समस्त धर्मों-धर्मप्रवर्त्तकों पर शासन करने वाले धर्म-चक्रवर्ती हैं और संसार-समुद्र में डूबते हुए जीवों के लिए द्वीप के समान आश्रयभूत हैं।

नाथ! आप ज्ञान-दर्शनावरण रूपी छद्मस्थता को पार कर के, कहीं और किसी से भी नहीं रुकने वाले ऐसे केवल ज्ञान-केवल दर्शन के धारक हैं। आपने राग-द्वेष रूपी आभ्यन्तर शत्रुओं को जीत लिया है और अन्य भव्य-प्राणियों को भी विजयी बनाने वाले हैं। आप स्वयं संसार से तिर गये और अन्य जीवों को तारते हैं। आप स्वयं पूर्ण तत्त्वज्ञ

हैं और अन्य जीवों को तत्त्व-बोध देने वाले हैं। आप स्वयं परिग्रहादि से मुक्त हैं और अन्य जीवों को बन्धन-मुक्त करने वाले हैं। आप सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। आप उस परम धाम—शाश्वत सुखकारी सिद्धि स्थान को प्राप्त करने वाले हैं, जो संसार के सभी प्रकार के उपद्रव, रोग और सन्तापों से रहित है, नित्य है, अटल है, अक्षय है। इस प्रकार अनन्त गुणों के स्वामी देवाधिदेव के श्री चरणों में मेरा नमस्कार हो।"

इस प्रकार महाराजाधिराज कुणिक ने भगवान् की वन्दना की। इसी प्रकार की स्तुति देवेन्द्र देवराज शक्र ने भी की थी और सभी अरिहन्त-भक्त करते हैं। कितनी भावपूर्ण और वास्तविकता के अनुरूप स्तुति है—यह। जब यह लोकोत्तर स्तुति, भक्त के हृदय से निकलती है, तब उसका हृदय कितना शुभ, शुभतर और शुभतम हो जाता है।

स्तुति कर चुकने के बाद कुणिक भगवान् की प्रत्यक्ष वंदना-पूजा करने की तय्यारी करता है। वह राज्य-वैभव के साथ भगवान् के समीप पहुँचता है। जब उसे दूर से ही भगवान् के विराजने के चिन्ह दिखाई देते हैं, तब वह हाथी पर से नीचे उतरता है। पाँवों में पहने हुए उपानह उतार देता है। पुष्प और पुष्पमालादि सचित्त द्रव्यों को त्याग देता है। छत्र-चमरादि राज्य-चिन्ह हटा देता है और एक वस्त्र का उत्तरासंग कर लेता है। फिर हाथ जोड़ कर मस्तक पर स्थापन करता है और नम्रतापूर्वक भगवान् के समीप उपस्थित

होता है।

भगवान् के समीप पहुँचने के बाद महाराजा कुणिक, भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा करता है, नमस्कार करता है और कहता है–

"हे जगदीश्वर! आप कल्याणकारी आनन्दकन्द हैं। आप परम मंगलमय हैं। आप देवाधिदेव हैं और परम ज्ञानी–सर्वज्ञ हैं। मैं श्री चरणों में सिर झुका कर वन्दना करता हूं।"

इस प्रकार वन्दना कर के वह अपने हस्तादि अंगोपांग को संकोच कर शिष्टतापूर्वक–एक नम्र शिष्य की तरह हाथ जोड़े हुए झुक कर भगवान् की सेवा में बैठता है। यह उसकी शरीर सम्बन्धी भक्ति हुई।

जब भगवान् धर्मोपदेश देते हैं, तब वह उत्साहित हो कर कहता रहता है–"प्रभो! आप फरमाते हैं, वैसा ही है। आप श्री की पवित्र वाणी सत्य, तथ्य एवं यथार्थ है और सन्देह से सर्वथा रहित है। मैं श्रीवचनों को हृदय में स्थापन करता हूँ। मैं निर्ग्रंथ-प्रवचन–श्रीवचनों को प्रेमपूर्वक–विशेष रूप से चाहता हूँ और सर्वाधिक रूप से श्रीवचनों को हृदयगत करता हूँ। इस प्रकार वह वाणी द्वारा प्रभु की भक्ति करता है।

उसके हृदय में भगवान् के प्रति परम भक्ति भाव है। उत्कृष्ट धर्मराग से उसकी आत्मा सराबोर हो जाती है। उसका मानस-हंस अन्य सभी विषयों से हट कर एक मात्र परम तारक

जिनेश्वर भगवान् की भक्ति में ही लगा है।

महाराजाधिराज कुणिक की यह त्रिधा भक्ति–पूजा ही देव की वास्तविक पूजा है। यदि इसके साथ तदनुकूल आचरण रूप चारित्र-धर्म का पालन भी जुड़ जाय, तो देव-पूजा, सम्पूर्ण पूजा होगी–सर्वांग भक्ति होगी।

सम्राट कुणिक के वर्णन से एक तो देव-पूजा की विधि स्पष्ट हो जाती है, दूसरा कुणिक की भक्ति का परिचय मिलता है। यहां शंका होती है कि–

शंका–जब कुणिक, भगवान् का ऐसा भक्त था, उसके हृदय में धर्म के प्रति परम आदर-भाव था, तो फिर वह नर्क में क्यों गया? इससे लगता है कि कुणिक की भक्ति केवल दिखाउ ही थी और उसका कारण था–राजनैतिक। भगवान् महावीर उस समय के महान् प्रभावशाली और परम मान्य थे। उनका प्रभाव बहुत फैला हुआ था। उनका आदर-सत्कार करने से उनका अनुयायी वर्ग, नरेश के प्रति अधिक अनुकूल हो सकता था। जनता पर अपनी छाप जमाने–अपने राज्य की नींव मजबूत करने के विचार से ही उसकी प्रभु-भक्ति होती थी। वास्तव में वह हृदय से भक्त नहीं था। क्या प्रभु भक्त, पितृ-घातक हो सकता है? पिता की मृत्यु का कारण बन सकता है? जब उत्कृष्ट प्रभु-भक्त भी नरक में जाता है, तो

उस भक्ति का मूल्य ही क्या ‡ ?

समाधान—उदय और क्षयोपशम के परिणाम विचित्र होते हैं। एक व्यक्ति पहले धर्मात्मा होता है, वही बाद में पापात्मा भी हो जाता है। और जिसका पूर्व-जीवन पाप-कृत्यों से सराबोर रहा हो, वह उत्तर जीवन आदर्श रूप में भी व्यतीत कर के जीवन सुधार लेता है। 'ज्ञातासूत्र' का कंडरिक-पुण्डरीक अध्ययन इसका साक्षी है। कहाँ कंडरिक का परम संवेगपूर्वक प्रव्रजित होना और कहाँ उसका घोरतम पतन हो कर सातवीं नरक में जाना। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि अन्तर्मुहूर्त में ही सातवीं नरक के योग्य परिणति बना लेते हैं और वे ही थोड़ी देर बाद सुलट कर अरिहंत भगवान् बन जाते हैं। जो मुनिश्वर अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त कर मनःपर्यवज्ञानी बन जाते हैं, उनमें से भी कोई इतना पतित हो जाता है कि मर कर सीधा छठी नरक तक चला जाता है, या स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाता

---

‡ लगभग १० १२ वर्ष पूर्व की बात है। मेरे एक मित्र ने एक नगर में सुने हुए व्याख्यान में कुणिक की बनावटी भक्ति का जिक्र किया था। मैंने उस पर से वक्ता मुनिजी से पत्र द्वारा पूछा था। उनका उत्तर भी मुझे प्राप्त हुआ था। मैं भी उस समय उनके तर्क को मान कर सहमत हो गया था। किंतु मेरे मन से यह प्रश्न हटा नहीं था। मैंने जब उववाई सूत्र का स्वाध्याय किया, तब मेरा समाधान हो गया। इस विषय में मैंने विद्वानों से परामर्श भी किया। आगमों के विधान तथा मनुष्य के विविध भावों पर दुर्लक्ष करके मात्र एकांगी तर्क पर आधार रखने से अनर्थ हो जाता है। उपरोक्त शंका इसी का परिणाम है।

है (भगवती २४-१) जब उदयभाव की प्रबलता होती है और आत्मा उससे चलित हो जाती है, तो उसका घोर पतन हो जाता है। एक समय के आहारक-शरीरधारी पूर्वधर तथा उपशांत-मोह वीतराग यथाख्यात चारित्री, कालान्तर में नरक-निगोद की अधमतम दशा को भी प्राप्त हो जाते हैं, तब कुणिक के बाद के पतन से, उसकी पूर्व की भक्ति बनावटी कैसे हो सकती है ? यदि कुणिक की भक्ति को उसके नरक गमन से बनावटी एवं दम्भपूर्ण मानेंगे, तो नरक में जाने वाले साधुओं की पूर्व की अप्रमत्तता तथा मनःपर्यवज्ञान भी खोटा और असत्य मानना पड़ेगा और आगमिक-विधान को भी असत्य मानना पड़ेगा।

जिस प्रकार उदयभाव से पतन होता है, उस प्रकार क्षयोपशम की तीव्रता से महापापी और अधर्मी भी सुलट कर महात्मा हो जाता है। इस प्रकार परिणति परिवर्त्तन असंभव नहीं है।

उदय के वश हो कर कई उत्तम मुनि भी अकार्य कर डालते हैं, कई निदान कर लेते हैं, कोई तेजोलेश्या का प्रयोग कर के मनुष्यों की हत्या कर देता है। कुणिक ने अपने निदान के प्रभाव से, पहले पिता को बन्दी बनाया और उनके आत्मघात का कारण बना। इसके बाद उसे अपने कुकृत्य का बहुत पश्चाताप हुआ। उसने बाद में कषाय के वश हो कर नरकायु का बन्ध भी किया, किंतु इससे उसकी उस समय की भक्ति को दांभिक कहना असत्य है। सूत्रगत-"**महया संवेगं जण-**

इत्ता तिव्वधम्माणुरागरत्ता पज्जुवासइ" शब्द उसके हृदयगत उच्चभावना को व्यक्त कर रहे हैं। इनकी ओर ध्यान देने से कुणिक की भक्ति की वास्तविकता का पूर्ण परिचय मिल जाता है।

हाँ, तो देव-पूजा त्रिकरण-त्रियोग से की जानी चाहिए। जैन-धर्म सम्मत यही विधि है। अरिहंत भगवान् की पूजा में किसी बाहरी द्रव्य की आवश्यकता नहीं रहती। आगमों में कहीं भी और किसी भी प्रसंग पर ऐसा उल्लेख नहीं कि जिसमें किसी को भगवान् की भक्ति में किसी अन्य द्रव्य की अपेक्षा रही हो। निर्ग्रंथनाथ जिनेश्वर भगवंत, उत्कृष्ट त्यागी हैं। संसार से निवृत्त हैं। उनकी भक्ति भी त्याग एवं निवृत्ति-परक ही होती है। पर-द्रव्य का स्वीकार कर के और सावद्य प्रवृति कर के उनकी पूजा नहीं की जा सकती। पुष्प-धूपादि 'पर' तथा सचित्त-अचित्त द्रव्य को ग्रहण कर के, आराध्य की पूजा करने की प्रवृत्ति, निर्वाणमार्गी जैन-धर्म सम्मत नहीं, किंतु लौकिक मत के अनुकूल है। जैनी कहे जाने वालों में जहाँ ऐसी पूजा पद्धति है, वह लौकिक अनुकरण मात्र है। यह बात आगमों के परिशीलन से सिद्ध होती है। जिस प्रकार गौतमादि श्रमण-निर्ग्रंथों ने प्रभु की वंदना और भक्ति की, उसी प्रकार कुणिक महाराज, तुंगिका के श्रमणोपासक तथा आनन्द-कामदेवादि श्रेष्ठ श्रावकों ने की। हाँ, श्रमणोचित आहारादि दान और ठहरने के लिए स्थान दान, अनुकूल पूजा है। वह भी सदैव नहीं, किंतु आवश्यकता होने पर और मर्यादा के अनुकूल। सजीव

वस्तु तथा परिग्रह सूचक अजीव वस्तु, श्रमण-मर्यादा के विपरीत अर्पण करना पूजा नहीं, किंतु अपमान है। जिनेश्वर प्रभु निरवद्य जीवन वाले, निष्पृह, वीतरागी निर्ग्रंथ होते हैं। उनका उपदेश भी निरवद्य होता है। उनके उपदेश के विपरीत आचरण करना भक्ति नहीं, आशातना है, सेवा नहीं, कुसेवा है, अनुकूल नहीं, किंतु प्रतिकूल व्यवहार है। अतएव जिनेश्वर भगवंत की भक्ति महाराजाधिराज कुणिक की तरह मन, वचन और काया से पूर्ण अनुकूल हो कर करनी चाहिए।

शंका–श्रावक के लिए छः आगार का प्रतिपादन हुआ है, तो आगमिक विधान के पालन से भी क्या आशातना होती है?

समाधान–यह आपवादिक छूट है। माता-पिता आदि के दबाव से अथवा विकट परिस्थिति में से पार होने के लिए, अनिच्छापूर्वक छः अपवादों में से किसी अपवाद का सेवन करना पड़े, तो वह विवशता की दशा है और उससे आंशिक रूप में आशातना (मिथ्यात्व की अनुमोदना) होती भी है। साधारण श्रावक अपनी दुर्बलतावश, अपवाद का अरुचिपूर्वक सेवन करता है, परंतु जो प्रतिमाधारी श्रावक होते हैं, वे इन अपवादों का सेवन नहीं करते।

बिना किसी विकट प्रसंग एवं अशक्यपरिहार रूप कारण के, आगार के बहाने से आशातना करना अनुचित है।

अरिहंत भगवान् की भक्ति तीन प्रकार से होती है, १ श्रद्धा से २ प्ररूपना से और ३ स्पर्शना से। दर्शन-श्रावक श्रद्धा और यथावसर प्ररूपणा से भक्ति करता है। स्पर्शना रूप

भक्ति में वह स्मरण, स्तुति, वन्दना, नमस्कार, श्रुतज्ञान का अभ्यास प्रचार और त्यागीवर्ग तथा साधर्मी की यथाशक्ति सेवा करता है और प्रवचन-प्रभावनादि रूप स्पर्शना भी करता है, किंतु प्रत्याख्यान-परिज्ञा (विरति) रूपी स्पर्शना नहीं कर सकता।

जो देशविरत श्रावक हैं, वह उपरोक्त आराधना के अतिरिक्त देशविरत हो कर आंशिक रूप से विरति की स्पर्शना भी करता है।

जो सर्वविरत साधु-साध्वी हैं, वे भगवान् की आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन करते हैं।

जो भगवान् तीर्थंकर देव की भक्ति सर्व प्रकार से एवं शुद्ध रूप से करते हैं, वे अपनी आत्मा में रहे हुए भगवद् स्वरूप को जाग्रत कर के स्वयं अरिहंत भगवान् बन जाते हैं। दर्शन-श्रावक भी भगवान् की उपासना कर के तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लेता है। इस महान् पुण्यपुञ्ज का सञ्चय करने का अधिकारी चौथे गुणस्थान का स्वामी दर्शन-श्रावक भी होता है।

भगवान् महावीर प्रभु के शासन में जिन नौ पुण्यात्माओं ने तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया (ठाणांग ९) उनमें से एक को छोड़ कर शेष आठ व्यक्ति श्रावक ही थे। जो भव्यात्मा अपनी मानसिक दुर्बलता को हटा कर भगवान् अरिहंत की विशुद्ध भक्ति करते हैं, वे अपने में रहे हुए देव स्वरूप को प्रकट कर के स्वयं अरिहंत बन जाते हैं।

साधक के सामने एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है,—कुणिक का उदाहरण प्रत्यक्ष अरिहंत की भक्ति बतलाता है, किन्तु हमारे लिए तो जिनेश्वर भगवान् परोक्ष ही है, तब हम उनकी भक्ति किस प्रकार करें। उत्तर यह है—साक्षात् अरिहंतों की प्रत्यक्ष भक्ति का योग तो थोड़े जीवों को, बहुत कम समय के लिए मिलता है। जिस समय भगवान् पृथ्वी पर विचरते हैं, उस समय भी लोगों को उनकी भक्ति करने का बहुत कम अवसर मिलता है, क्योंकि तीर्थंकर भगवान् एक होते हैं और क्षेत्र विशाल होता है। उनका विचरना होता रहता है। जहां वे विराजते हैं, उसके सिवाय अन्य क्षेत्रों के उपासकों को साक्षात् भक्ति का योग नहीं रहता और उपस्थिति के स्थान पर भी किसी व्यक्ति को दिन-रात में घंटे दो घंटे ही साक्षात् सेवा मिलती होगी। शेष समय में तो परोक्ष भक्ति ही होती है। कुणिक नरेश ने भगवान् का आगमन सुनने के साथ, पहले अपने भवन में रह कर परोक्ष वन्दन ही किया था और स्कन्दकजी आदि तथा गणधरों ने अन्तिम संथारा करते समय पर्वतादि पर रहे हुए परोक्ष भक्ति की थी। प्रत्यक्ष और परोक्ष भक्ति की विधि में कोई अन्तर नहीं रहता। प्रत्यक्ष के सम्मुख उपस्थित हो कर वन्दना-नमस्कार किया जाता है, वही—उसी प्रकार—परोक्ष को भी वन्दनादि की जा सकती है। प्रत्यक्ष को कुछ दिया नहीं जाता, भेंट या चढ़ावा नहीं चढ़ता। वहाँ भी मन, वचन और काया से आदर, सम्मान, भक्ति और अप्रतिकूलता होती है और परोक्ष

में भी यही होता है। प्रत्यक्ष में पृच्छादि से अधिक लाभ होता है, किन्तु पूजा की विधि तो प्रत्यक्ष और परोक्ष की लगभग समान ही है। प्रत्यक्ष को कभी आहार, स्थान आदि प्रतिलाभने—अर्पण करने—का अवसर प्राप्त हो सकता है, इसके सिवाय शेष भक्ति समान ही होती है। यदि उपासक, परोक्ष की भाव-पूर्वक भक्ति करना चाहे, तो उसके समक्ष प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद नहीं रहता। वह परोक्ष को भी हृदय में प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। परोक्ष भक्ति इस प्रकार की जा सकती है।

हम कल्पना करें कि नगर के बाहर उद्यान में, एक सघन वृक्ष की शीतल छाया में, शिलाखण्ड पर प्रभु पर्यङ्कासन से विराजमान हैं। उनके श्रीमुख पर परम शांति एवं प्रसन्नता झलक रही है। उस सौम्य आकृति से हृदय की पवित्रता, विशालता और निर्दोषता प्रकट हो रही है। केवलज्ञान के प्रबल प्रकाश से उनकी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश प्रकाशमान हो रहा है। समवसरण में विशाल संख्या में भव्यजीव बैठे हुए एकाग्रतापूर्वक प्रभु के मुखकमल पर दृष्टि जमाए हुए हैं। भगवान् अपनी पवित्र वाणी से उपदेश दे रहे हैं।

"भव्यों! समझो, हिताहित पहिचानो। जीव विपरीत समझ के कारण ही अनन्त जन्म-मरण कर रहा है। दुःख का बीज अज्ञान में रहा हुआ है। अज्ञान को मोहरूप मदिरा से सिंचन कर के कटु फल प्राप्त किये जाते हैं। यदि क्रोधादि कषाय से अज्ञान का

सिंचन नहीं किया जाय, तो वह नष्ट हो सकता है। जहाँ संयोग है, वहाँ दुःख है," आदि।

भगवान् की देशना के विषयों का निर्देश पूर्वाचार्य ने इस प्रकार किया है,—

"कहिओ भगवया जीवदयाइओ धम्मो। वण्णिया माणुसत्ताइया दुल्लहा धम्मसाहण-सामग्गी। परूविया मिच्छत्ताइया कम्मबंध हेऊ। उवइट्ठाणि महारंभाइयाणि णरयगइकारणाणि, परूविओ जम्माइदुक्खपउरो संसारो। परूवियं कोहाइकसायाणं भवभमणहेउत्तणं। पयडिओ सम्मद्दंसणाइओ मोक्खमग्गो।"

उपरोक्त शब्दों में देशना के प्रधान विषयों का निर्देश किया गया है। भगवान् की देशना में मुख्यतः जीवदयादि धर्म, मनुष्य-जन्मादि चार अंगों तथा धर्म-साधना की दुर्लभता, मिथ्यात्व-अविरति आदि कर्म-बन्ध के हेतु, नरक तिर्यंचादि दुर्गति के महारंभादि कारण, संसार में जन्म-मरणादि दुखों की प्रचुरता, भव-भ्रमण के हेतु क्रोधादि कषायों की भयंकरता और सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग, ये प्रधान विषय जिनेश्वर भगवन्त की देशना के हैं।

उपासक अपने आस-पास के वातावरण और स्थिति को भूल कर यही अनुभव करता है कि 'मैं भगवान् के समवसरण में हूँ।' वह भगवान् के कषाय-कालिमा शून्य निर्मल एवं पवित्र तथा प्रकाशमान आत्म-स्वरूप का चिन्तन करे, तदनुरूप

बनने की भावना करे, उस पवित्रता को अपनी आत्मा में उतारने का अभ्यास करे।

इस प्रकार रूपस्थ-ध्यान में लीन हुआ साधक, प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद ही भूल जाता है। इतना ही नहीं, कुछ देर के लिए वह प्रभु को अपने समक्ष अनुभव करता है। संक्षेप में यही समझना चाहिए कि "भगवान् के अनुकूल बनने का प्रयत्न करना ही भगवान् की पूजा है और इसीसे अपना भगवान् जाग्रत होता है—अपनी आत्मा में दबा हुआ भगवत् स्वरूप प्रकट होता है।"

जब हम गुणपूजक हैं, तो भगवान् की पूजा, वन्दना, स्तुति भी गुणयुक्त ही होनी चाहिए। हम गुणपूजक कहलावें और दूषित पूजा करें या दोषयुक्त पद्यों को गा कर भगवान् की स्तुति होना माने, यह कहां तक उचित है? जब हम दूषित पूजा-पद्धति को नहीं अपनाते, तो दूषित स्तुतियों को क्यों अपनाते हैं?

अरिहन्त भगवान् के उपासक का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह आराध्य की आशातना (भक्ति को ठेस पहुँचाने वाली प्रवृत्ति) से बचे। वह सावधान रहे कि कहीं अनजानपने से भी उससे कोई ऐसा विचार, प्रचार या कार्य नहीं हो जाय, जो अरिहंत भगवान् के स्वरूप, सिद्धांत तथा परम्परा के प्रतिकूल हो। आशातना या तो अश्रद्धा से होती है, या फिर धार्मिक सिद्धांत की अनभिज्ञता से। अरिहंत पद प्राप्त कराने वाली वही भक्ति है—जो आशातना के दोष से दूषित नहीं हो कर शुद्ध एवं निर्मल हो।

आशातना के कुश्रद्धाजनित कुछ भेद इस प्रकार हैं—

(१) 'अरिहंत भगवान् हुए हैं या नहीं, शास्त्रों में लिखा वह सत्य है या कल्पना मात्र ?'–इस प्रकार सन्देह करना।

(२) 'इतिहास से भ. पार्श्वनाथ और भ. महावीर का होना सिद्ध होता है। इनके पूर्व जो २२ तीर्थंकर होना कहा जाता है, वास्तव में वे हुए भी हैं या नहीं,'–ऐसी शंका करना।

(३) भ. पार्श्वनाथ और महावीरस्वामी वैसे ही थे, जैसे म. बुद्ध और म. गांधी थे और वर्तमान में श्री विनोबाजी हैं। उनमें कोई अलौकिक विशेषता नहीं थी। वे हमारे जैसे ही मानव थे।

(४) आगम मे तीर्थंकरों के अतिशयों का वर्णन है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण और अलंकारिक है। अपने उपास्य को सर्वश्रेष्ठ बताने की उपासक की भावना का यह परिणाम है।

(५) पूर्व-भव से अवधिज्ञान साथ लाने की बात विश्वसनीय नहीं है।

(६) सर्वज्ञता का विधान तथा व्याख्या गलत है। एक व्यक्ति विश्व के समस्त–अनन्तानन्त–पदार्थों की सभी–त्रिकाल-वर्ती सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्थाओं का सम्पूर्ण ज्ञाता नहीं हो सकता। इसलिये तीर्थंकरों को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी मानना उचित नहीं है। वे आत्मोद्धार–धर्म–की विधि एवं मर्म–रहस्य जानते थे–यही मानना उचित है।

(७) भगवान् ने स्त्री-स्वातन्त्र्य और अछूतोद्धार के लिये विद्रोह किया। वे जन-सेवा के लिये संसार-त्यागी बने–ऐसा मानना।

(८) समाजवाद के सिद्धांत से प्रेरित हो कर उन्होंने

'अपरिग्रह व्रत' का उपदेश दिया।

(९) बुद्ध, महावीर, राम, कृष्ण, मुहम्मद आदि सभी समान कोटि के महापुरुष थे। इसलिए सभी के प्रति समान आदर-भाव रखना चाहिए।

(१०) भ० महावीर अथवा कोई भी तीर्थंकर, राग-द्वेष से सर्वथा रहित नहीं थे। वीतरागता का अर्थ राग-द्वेष का विश्व-व्यापी हो जाना है। अपने अथवा कौटुम्बिकजनों के लिए राग-द्वेष नहीं कर के, सभी जीवों के भले के लिए राग-द्वेष, मोह या तृष्णा होना ही वीतरागता है—इस प्रकार कपोल-कल्पना कर के 'क्षायकभाव' के प्रति अश्रद्धा लाना व प्रचार करना।

(११) 'प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ ने असि, मसि और कृषि का उपदेश दिया'—इस प्रकार मान कर और मनवा कर गृहस्थावस्था की बात को तीर्थंकर अवस्था में लागू कर के भगवान् को सावद्य क्रिया के उपदेशक बतलाना।

(१२) भगवान् ने गोशाला की अनुकम्पा की, यह उनकी भूल थी—ऐसा मानना और तदनुसार प्रचार करना।

(१३) भगवान् ने निवृत्ति-मार्ग—मोक्ष-मार्ग तथा भिक्षाचरी का विधान कर के भूल की—राष्ट्र-विरोधी कार्य किया—ऐसा खोटा प्रचार करना।

(१४) भगवान् की पूजा के नाम पर सावद्य क्रिया करना। भगवान् के निरारंभी निष्परिग्रही जीवन तथा उपदेश की उपेक्षा कर के आरंभ-परिग्रह-जन्य क्रिया करना और

उसमें भक्ति होना मानना ।

(१५) भगवान् के नाम से धन संग्रह करना और उसे 'देवद्रव्य' मानना ।

(१६) भगवान् के नकली माता-पितादि बनाना, उनके जन्मादि अवस्थाओं का नाटक करना और उसमें भक्ति मानना ।

(१७) सांसारिक कार्य–स्वार्थ साधनार्थ, भगवान् का स्मरण जाप आदि करना ।

(१८) अरिहन्त भगवान् की भक्ति–बहुमान नहीं करना ।

(१९) उनके नाम के साथ "भगवान्" विशेषण का व्यवहार नहीं करना और "महात्मा" विशेषण लगाना +।

(२०) अरिहंत भगवान् के महत्व को घटाने वालों और वैसी प्रवृत्ति करने वालों के समर्थक होना । यथाशक्ति असहमति प्रकट नहीं करना और वैसे कार्य तथा संस्था से सम्बन्धित रहना ।

(२१) कुदेवों की भक्ति, बहुमान एवं पूजादि करना ।

ऐसी अथवा अन्य प्रकार की विपरीतता, आशातना है । आराध्य के प्रतिकूल विचार, प्रचार और प्रवृत्ति ही आशातना कहलाती है, फिर वह कैसी भी हो और कितनी ही प्रकार की हो । अरिहंत के उपासक का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसी कोई बात

+ जैसे कि श्री सत्यभक्तजी ने, सत्य को भगवान् मान कर और बुद्ध, राम, कृष्ण, ईशा, मुहम्मद के समकक्ष भ० महावीर को रख कर सब को 'महात्मा' बतलाया है और 'महावीर वर्धमान' पुस्तक तथा अन्य लेखों में 'भगवान्' विशेषण नहीं लगाया गया ।

अथवा कार्य नहीं करे, जिससे आराध्य के स्वरूप सिद्धांत और महत्व को तनिक भी गिराने का निमित्त बने।

शंका– कुदेव की भक्ति, पूजा और बहुमान को आपने अरिहन्त भगवान् की आशातना होना बतलाया, किन्तु पूर्व के श्रावकों ने अपने सांसारिक कार्य के लिए तपस्या कर के देवों का आराधन किया था, तो क्या वह भी आशातना थी ?

समाधान– उन श्रावकों ने जिन देवों की आराधना की, वे "कुदेव" नहीं थे, किन्तु गति और जाति से देव कहलाते थे। उनमें से कोई-कोई तो मित्र देव भी थे। जो कुप्रवचन के उपदेष्टा हैं, वे कुदेव कहलाते हैं, और वे बुद्धादि की तरह मनुष्य-पर्याय में, अमुक कुप्रवचन के प्रवर्त्तक माने गये हैं। आज भी वे किसी मत के देवरूप में उपास्य माने जाते हैं। उन श्रावकों ने ऐसे किसी कुप्रावचनिक देव की आराधना नहीं की, न उन देवों का सम्बन्ध किसी मत विशेष से था। वे वैक्रिय-शक्ति सम्पन्न थे, इसलिए सांसारिक प्रयोजन विशेष से उनकी आराधना की गई थी। जिस प्रकार आजीविकार्थ एक साधारण व्यक्ति, किसी धनवान की नौकरी करता है, उसी प्रकार परिस्थितिवश, प्रयोजन होने पर उन्होंने (जो कुप्रावचनिक नहीं है–ऐसे) देव की आराधना की थी। अतएव वे अरिहन्त की आशातना करने वाले नहीं कहे जा सकते। यदि वे सांसारिक प्रयोजनवश भी कुप्रावचनिक देव के पूजक होते, तो अवश्य ही आशातना लगती और वे मिथ्यात्वी के अनुमोदक कहे जाते।

पाठक पूछेंगे कि—दूषित स्तुतियाँ कैसी है ? उत्तर है कि—जिन गीतों से मोह का पोषण हो, संसारावस्था की रुचि जगे और अप्रशस्त भावों की अनुमोदना हो, वे दूषित स्तुतियाँ हैं, भले ही उनमें अरिहंत का नाम अथवा उनकी किसी अवस्था का वर्णन हो। जैसे—

भगवान् को उनकी माता पालने में झुला रही है और वह उदय भाव में सराबोर होती हुई—भविष्य के भौतिक सुख-स्वप्न देखती हुई, कई प्रकार के मनोरथ कर रही है। एक गुर्जर कवि के शब्दों में ऐसी भावना का नमूना देखिये—

"नन्दन नवला मोटा थाशो ने परणावशुं।
बहुवर सरखी जोढ़ी लावशुं राजकुमार।
सरखा वहेवाई बहेवाण पधरावशुं।
बहुवर पोंखी लइशुं जोइ-जोइने देदार।
हालो हालो हालो हालो, रे मारा वीर ने। इत्यादि

यह केवल मोह भाव के ही कारण है। इसमें देव-भाव का लेश भी नहीं है। हमारे हृदय में विराग को नहीं, किंतु राग-भाव को जगाने में ही ऐसे पद्य निमित्त बनते हैं। इस प्रकार के हालरिये और दूसरे पद्य, साधारण जनता को मोहित तो कर सकते हैं, पर आत्मभाव जगाने के कारण नहीं हो सकते।

इसी प्रकार बालक्रीड़ा या संसारावस्था के करने वाली कविताएँ भी आत्मोत्थान की

होती । जैसे–

"मस्तक मुकुट काना कुण्डल, तिलक ललाट लगैया । रत्न आँगने रुमझुम खेले, त्रिलोकी के रिझैया । मरुदे मइया, प्यारा लागे तेरा जैया ।" तथा–"ऋषभ कनैया लाला आँगना में रुमझुम खेले ।"

तथा–"झुले श्री वीर जिनन्द पालना" आदि

कुछ ऐसी भी कविताएँ बनी कि जिसमें महासती श्री राजमतीजी को भ० नेमिनाथजी के विरह में विलाप करती हुई और दूसरे भोगियों के जोड़े के भोग-जीवन को देख कर अधिकाधिक दुःख व्यक्त करती हुई बताया गया है ।

कई स्तुतियें स्वार्थ-बुद्धि को व्यक्त करने वाली है, जैसे कि–

"चिन्तामणि के नाम से, सकल सिद्ध व्हे काम । राज ऋद्धि रमणी मले, सुख संपत्ति बहु दाम । हय गय रथ पायक मले, लक्ष्मी को नहीं पार ।" आदि

इस प्रकार स्वार्थ भावना को प्रबल करने वाली स्तुतियें, संसार में बान्धने वाली हैं, छुड़ाने वाली नहीं । हो सकता है कि ऐसी प्रार्थनाएँ, कभी मिथ्यामतों की ओर जाते हुए जीवों को जिन-धर्म में (बाह्य रूप से, प्रलोभनादि से) टिकाये रक्खे- [illegible] रखे और वह बन्धन कभी उपादान जगाने में सहायक वे [illegible] सद्गुरु के निमित्त से कभी धर्म के सही स्वरूप तो अवश्य [illegible] किन्तु ऐसी प्रार्थनाएँ व्यक्ति के आत्मगुणों को अनुमोदक कहे जा[illegible]हीं है[illegible]

इस प्रकार की दूषित प्रार्थनाओं—स्तुतियों को छोड़ कर आत्मभाव जगाने वाली, वैराग्यवर्धक अथवा तत्त्वज्ञान से भरपूर स्तवनों को अपनाना अवश्य ही हितकारक हो सकता है। यदि हमारी दृष्टि की मलीनता दूर हो जाय, हम मोहवर्धक एवं स्वार्थ-साधक भावना को धर्म में स्थान नहीं दें और मात्र आत्मोत्थान की शुभ दृष्टि से भगवान् अरिहंत की आराधना करें, तो हमारी आत्मा, धीरे-धीरे अर्हत् पद की ओर बढ़ सकती है। यदि अभ्यास बढ़ता रहा, साधना में वेग आता रहा, तो ऐसा समय भी आ सकता है कि जब उत्कृष्ट भावों के चलते आत्मा तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित कर ले और तीसरे भव में तीर्थंकर बन कर मोक्ष प्राप्त कर ले।

तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध, गृहस्थ भी कर सकता है और साधु भी, पुरुष भी कर सकता है और स्त्री भी, चाहिये सच्ची लगन। विशुद्ध दृष्टि के साथ भक्ति की एकरसता हो, उत्कट भाव हो, तो सफलता अवश्य मिलती है, किन्तु सावधान रहना चाहिय कि मन में पद प्राप्ति की कामना नहीं हो। साधक का उद्देश्य तो मुक्ति का ही होना चाहिए, इसके अतिरिक्त कोई अन्य कामना नहीं होनी चाहिए, फिर भले ही शुभ भावों के बढ़ते हुए जिन नाम-कर्म का बन्ध हो जाय।

जिनेश्वर भगवंतों के त्यागी जीवन पर उनकी कष्ट-सहिष्णुता, अडिगता, धैर्य, सद् साहस और असंग दशा तथा निवृत्तिप्रधान चरित्र का मनन करना चाहिए और इनको आदर्श सामने रख कर खुद भी यथाशक्ति उस मार्ग पर अग्र-

सर होना चाहिए। भगवान् की छद्मस्थ दशा की साधना का कुछ वर्णन आचारांग सूत्र अ० ९ तथा २४ में है। उनकी तीर्थंकर दशा तथा देशना आदि का वर्णन उववाई सूत्र में है। गोशालक द्वारा किये गये आक्रमण तथा भगवान् की अपूर्व वीतरागता का वर्णन भगवती श० १५ में है। इन सब पर मनन कर के तदनुसार जीवन बनाने की रुचि जगानी चाहिए। कम से कम प्रतिदिन प्रातःकाल और रात्रि को शयन करते समय उनका शरण ग्रहण करना चाहिए। जैसे–

"अरिहंता सरणं पवज्जामि"

अथवा–

"जावज्जीवं मे भगवंतो वीयरागा, परम-तिलोग-नाहा, अणुत्तरपुण्णसंभारा, खीणरागदोसमोहा, अचिन्त-चिन्तामणी, भवजलहिपोआ एगन्तसरणा अरिहंता सरणं।"

अथवा–

"रागद्दोसारीणं हंता, कम्मट्ठगाई अरिहंता।
विसयकसायरीणं, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥१॥
रायसिरि मुवक्कमित्ता, तवचरणं दुच्चरंअणुच्चरित्ता।
केवलसिरि मरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥२॥
थुइवंदणमरिहंता, अमरिन्दनरिन्द-पूअमरिहंता।
सासयसुहमरहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥३॥

परमणगयं मुणंता, जोइंदमहिंदझाणमरहन्ता ।
धम्मकहं अरहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥४॥
सव्वजिआणमहिंसं, अरहंता सच्चवयण-मरहन्ता ।
बंभव्वय-मरहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥५॥
ओसरणमवसरित्ता, चउतीसं अइसए-निसेवित्ता ।
धम्मकहं च कहंता, अरिहंता हूंतु मे सरणं ॥६॥
एगाइ गिराऽणेगे, संदेहे देहिणं समं छित्ता ।
तिहुयणमणुसासंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥७॥
वयणामएण भुवणं, निव्वाविंता गुणेसु ठावंता ।
जिअलोअमुद्धरंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥८॥
अच्चब्भूय गुणवंते, निअजससंसहरपसाहिअदिअंते ।
निअयमणाई अणंते, पंडिवन्नो सरणं अरिहंते ॥९॥
उज्झिअजरमरणाणं, समत्तदुक्खत्तसत्त सरणाणं ।
तिहुअणजण सुहयाणं, अरिहंताणं नमो ताणं ॥१०॥

(चउसरण पइन्ना)

यदि हमने भगवान् अरिहंत देव का आदर्श स्वीकार किया और दृढ़ विश्वासपूर्वक शुद्ध हृदय से भक्ति की, तो हम भी कभी-न-कभी अरिहंत बन कर अन्त में सिद्ध दशा प्राप्त कर सकेंगे ।

'अरिहंत भक्ति' नामक पहला प्रकरण पूर्ण

सिद्ध भक्ति

अरिहंत भगवान् ही सिद्ध होते हैं, फिर भले ही वे तीर्थंकर अरिहंत हो या अतीर्थंकर (सामान्य) अरिहंत। परंतु बिना अरिहंत हुए कोई भी जीव सिद्ध नहीं हो सकता। सिद्ध वही हो सकता है जिसने अरिहंत पद प्राप्त कर लिया हो। सर्व-विरत होने के लिए देश-विरत होना अनिवार्य नहीं है, किन्तु सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए अरिहंत (तेरहवाँ गुणस्थान) होना अनिवार्य है। जिस प्रकार अरिहंत होने वाले को सातवें से लगा कर दसवें और बारहवें गुणस्थान को स्पर्शना अनिवार्य है, उसी प्रकार सिद्ध होने वालों को इन गुणस्थानों के अतिरिक्त सयोग-केवली (अरिहंत) होना अनिवार्य है। इतना होते हुए भी सिद्ध होने वाले अरिहंतों की बाह्य अवस्था समान नहीं होती। उसमें निम्न प्रकार की विविधता होती है–

१ तीर्थ-सिद्ध– तीर्थ = तीर्थंकर भगवंत के प्रवचन के आराधक साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ व्यवस्था, जिससे भव्यात्मा चतुर्गति रूप संसार महासागर

को तिर कर पार पहुँच सके, ऐसे तीर्थ के अस्तित्व में जो सिद्ध होते हैं, वे 'तीर्थ-सिद्ध' कहलाते हैं।

२ **अतीर्थ-सिद्ध**— तीर्थ की स्थापना होने के पूर्व अथवा तीर्थ विच्छेद हो जाने के बाद जो सिद्ध होते हैं, वे (जिनके सिद्ध होते समय तीर्थ की व्यवस्था नहीं रहती) 'अतीर्थ-सिद्ध' कहलाते हैं।

तीर्थ का विच्छेद होना आश्चर्यजनक घटना होती है, किंतु अनन्तकाल में कभी ऐसा होता है।

३ **तीर्थंकर सिद्ध**— जो तीर्थ की स्थापना कर के तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं। जो चौंतीस अतिशय और पैंतीस वाणी गुणयुक्त होते हैं, जिनके तीर्थंकर नामकर्म की महान् फलदायिनी पुण्य-प्रकृति का उदय होता है, जो हजारों, लाखों और परम्परा से संख्यात-असंख्यात जीवों के तारक होते हैं, वे 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर-पद प्राप्त कर के और तीर्थ प्रवर्तन कर के जो सिद्ध होते हैं, वे 'तीर्थंकर सिद्ध' कहलाते हैं।

४ **अतीर्थंकर सिद्ध**—तीर्थंकर पद प्राप्त किये बिना ही जो सिद्ध होते हैं, वे अतीर्थंकर (या सामान्य केवली) सिद्ध कहलाते हैं। गणधर, आचार्य, उपाध्याय आदि और तीर्थ-सिद्ध आदि अनेक भेद इस पद में समा जाते हैं।

५ **स्वयंबुद्ध सिद्ध**— जिनकी आत्मा इतनी उज्ज्वल हो

कि बिना किसी के उपदेश के–अपने-आप समझ जाते हैं और परमार्थ पर आरुढ़ हो जाते हैं, वे 'स्वयंबुद्ध सिद्ध' कहलाते हैं। तीर्थंकर भगवान् तो स्वयंबुद्ध ही होते हैं।

६ प्रत्येकबुद्ध सिद्ध– जो किसी एक वस्तु को देख कर विरक्त हो जाते हैं और आत्म-कल्याण कर लेते हैं, वे 'प्रत्येकबुद्ध सिद्ध' कहलाते हैं। जैसे समुद्रपालजी ने चोर को देख कर वैराग्य पाया। प्रत्येकबुद्ध विरक्त हो कर एकाकी ही निकल जाते हैं और कठोर साधना कर के सिद्ध हो जाते हैं।

स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध में चार प्रकार की विशेषता होती है। १ बोधि २ उपधि ३ श्रुत और ४ लिंग।

बोधि– जो तीर्थंकर होते हैं, वे तो पूर्वभव से अवधि-ज्ञान लाते ही हैं, किन्तु तीर्थंकर के अतिरिक्त जो स्वयंबुद्ध होते हैं, उनमें से कोई पूर्वभव से अवधिज्ञान ले कर आते भी हैं और नहीं भी आते। उन्हें यहीं किसी बाहरी निमित्त के बिना ही जाति-स्मरण आदि ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। किन्तु प्रत्येकबुद्ध तो को बाहरी निमित्त से ज्ञान उत्पन्न होता है।

उपधि (उपकरण)–जो स्वयंबुद्ध तीर्थंकर होते हैं, वे तो कल्पातीत होते हैं, किन्तु सामान्य स्वयंबुद्ध के वस्त्र-पात्रादि उपकरण होते हैं। प्रत्येकबुद्ध कम से कम–रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो और उत्कृष्ट नौ उपकरण वाले होते हैं।

श्रुत– स्वयबुद्ध में पूर्वभव का श्रुत होता भी है और किसी में नहीं भी होता, किन्तु प्रत्येकबुद्ध में अवश्य होता है और वह कम से कम ११ अंग और अधिक से अधिक १० पूर्व से कुछ कम होता है।

लिंग– पूर्वभव से ज्ञान लाये हुए स्वयंबुद्ध, गुरु के समीप दीक्षित हो कर वेशयुक्त रहते हैं। जो पूर्वभव का ज्ञान नहीं लाते और यहीं अपने-आप बोधि प्राप्त कर लेते हैं, वे या तो गुरु के पास जा कर वेश स्वीकार करते हैं अथवा देव का दिया हुआ वेश स्वीकार करते हैं। उनमें से कोई गच्छ में भी रहते हैं, तो कोई अकेले ही विचरते हैं। प्रत्येकबुद्ध को या तो देवता लिंग देते हैं, या लिंग रहित भी होते हैं।

७ बुद्ध-बोधित सिद्ध– आचार्यादि के उपदेश से बोध प्राप्त कर के सिद्ध होने वाले।

८ स्त्री-लिंग सिद्ध– स्त्री-लिंग–स्त्रीत्वयुक्त। यह तीन प्रकार का होता है–१ वेद २ शरीराकृति और ३ वेश। इनमें से 'वेद' को तो यहाँ स्थान ही नहीं है। क्योंकि किसी भी वेद के उदय में जीव सरागी ही रहता है। वह वीतरागी बन ही नहीं सकता, तो सिद्ध तो हो ही कैसे सकता है। और वेश अप्रमाण है। केवल शरीराकृति ही यहां ली गई है। तात्पर्य यह कि स्त्री-शरीर से जो सिद्ध होते हैं, वे "स्त्री-लिंग सिद्ध" कहाते हैं।

पुरुष-लिंग सिद्ध–पुरुष-पर्याय से सिद्ध होते हैं, वे 'पुरुष-लिंग सिद्ध' कहलाते हैं।

१० नपुंसकलिंग सिद्ध– जो नपुंसक शरीराकृति से सिद्ध होते हैं, वे 'नपुंसक-लिंग सिद्ध' कहलाते हैं।

११स्व-लिंग सिद्ध–स्व = अपना = मुक्ति-साधनाका, लिंग= वेश। जिस वेश में रह कर आमतौर से सिद्धि-लाभ लिया जाता है, उस वेशयुक्त जो सिद्ध होते हैं, वे 'स्व-लिंग सिद्ध' होते हैं।

यों तो लिंग बाहरी वेश-भूषा है। वेश-भूषा किसी को मुक्ति नहीं दिला सकती। वेश में रह कर दुराचार का सेवन भी किया जाता है। वेश में रह कर दूसरों की आँखों में धूल भी डाली जा सकती है। यह वेश का दुरुपयोग है, ठगाई है। यदि कोई भोजन का उपयोग किसी को जाल में फँसाने के लिए या विष-मिश्रित कर के किसी के प्राण लेने में करे, तो इसमें भोजन का क्या दोष ? इसीलिए तो आगमों में उपकरण के दुरुपयोग को 'अधिकरण'–शस्त्र रूप बताया है। वैसे मिथ्यादृष्टि लोग सम्यग् श्रुत–जिनागमों का–भी दुरुपयोग कर (विष रूप में परिणत कर) अपनी आत्मा के अनन्त भाव-मरण का कारण बना लेते हैं। इसलिए दुरुपयोग की बात छोड़ कर सदुपयोग की बात सोचनी चाहिए।

स्वलिंग में मुख्य वस्तु रजोहरण और मुखवस्त्रिका है।

ये दो उपकरण तो जिनकल्पि के भी होते हैं। जो उग्रविहारी जिनकल्पि मुनि, वस्त्र-पात्र तक नहीं रखते, वे भी कम से कम रजोहरण और मुखवस्त्रिका तो रखते ही हैं, क्योंकि ये दोनों उपकरण केवल लिंग ही नहीं, संयम साधना (पूर्ण अहिंसक रहने) का साधन भी है। कल्पातीत के अतिरिक्त जितने भी मुनि, स्थविर-कल्प या जिनकल्प में होते हैं, वे कम से कम ये दो उपकरण तो रखते ही हैं। रजोहरण–प्रमार्जन के लिए। यह जीव-रक्षा का प्रमुख साधन है और मुखवस्त्रिका, भाषा के निरवद्य व्यवहार का खास साधन है। इसके अतिरिक्त संसारी लोगों से संयम की रक्षा भी इन दो उपकरणों से होती है। लोग जान लेते हैं कि ये निर्ग्रंथ-श्रमण हैं। इसलिए उनके साथ सांसारिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करते। इस प्रकार स्वलिंग, संयम का रक्षक भी होता है। इसके अतिरिक्त ये दोनों उपकरण, दूसरे हलुकर्मी भव्यात्माओं का आत्म-भान जगाने में निमित्त भी बन सकते हैं। जैसे–मृगापुत्रजी आदि के बने थे। इसीलिए इसे 'स्वलिंग' का आदरपूर्ण स्थान प्राप्त है।

दूसरा 'अन्यलिंग' तथा 'गृहलिंग' के भेद भी 'स्वलिंग' का महत्व बतला रहे हैं। 'अन्य' और 'गृह' ये दोनों लिंग, साधु के अपने लिंग नहीं हैं। ये 'कुलिंग' हैं। इसी से इन्हें 'अन्य' व 'गृह' की संज्ञा दे कर 'स्व' से भिन्न बताया। इसका खास कारण यही है कि 'स्वलिंग' ध्येय-सिद्धि का एक साधन भी है, इसीलिए इसे 'स्व'–अपनापन–प्राप्त

हुआ है। यह बात 'अन्य' और 'गृहलिंग' के लिए लागू नहीं होती। वे तो स्पष्ट रूप से 'पर' ही हैं ×।

× स्वलिंग-सिद्ध, अन्यलिंग-सिद्ध और गृहलिंग-सिद्ध के विषय में निम्न उदाहरण है;-

१- भोग के फलस्वरूप पुत्र प्राप्त करने वाली स्त्री सधवा भी होती है, विधवा भी और अविवाहित-कुंवारी भी। सधवा स्त्री की पुत्र प्राप्ति प्रशंसनीय होती है। उसका उत्सव मनाया जाता है और वह पुत्र वैध माना जा कर पिता की सम्पत्ति का वारिस बनता है। किन्तु कुंवारी और विधवा के पुत्र हो, तो छुपाया जाता है। उसके गीत नहीं गाये जाते, उत्सव नहीं मनाये जाते और वह किसी बाप का बेटा नहीं कहा जाता। दोनों के पुत्र अवैध होते हैं और निन्दनीय माने जाते हैं।

स्वलिंग-सिद्ध, सधवा के पुत्र के समान है। प्रशंसनीय है, वैध है, अतएव अधिकार सम्पन्न है।

२- अन्यलिंग-सिद्ध, विधवा के पुत्र के समान है। इसे दुराचारिणी के पुत्र के समान कहना विशेष उपयुक्त है। क्योंकि वह ऐसे पुरुष की पत्नी है कि जिसमें पुत्र उत्पन्न करने की योग्यता ही नहीं है। वह नपुंसक है। उसकी स्त्री गुप्त रूप से दूसरे पुरुष के साथ सहवास कर के पुत्र प्राप्त करती है।

अन्यलिंग, मुक्ति का साधन नहीं है। उस आचरणा से मुक्ति हो ही नहीं सकती। उस आचरणा में मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता ही नहीं है। किन्तु साधक के हृदय में प्रच्छन्न रूप से सम्यग्दर्शन प्रवेश करता है और साथ ही सम्यक् चारित्र और अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति असोच्चा केवलीवत् (भगवती ९-३१)। वेश अन्य का किन्तु भीतर पहुँचा-स्व-भाव, स्वलिंग, और सफलता मिली। ऊपर अन्य और भीतर स्व। यह स्थिति भी अवैध है।

३- गृहलिंग मुक्ति के योग्य ही नहीं है। जिस प्रकार कुंवारी

तीसरा-यह भी विचारणीय है कि लिंग (वेश) सम्बन्धी ये तीन भेद भी स्वलिंग के महत्व के कारण ही बने। यदि 'स्वलिंग' का महत्व नहीं होता, तो शेष दो भेद होते ही नहीं।

चौथी बात यह है कि-'स्वलिंग' ही साधना का राजमार्ग-उत्सर्गमार्ग है। शेष दो अपवाद मार्ग हैं। यह भेद सिद्ध होने वाली आत्माओं की संख्या से सिद्ध होती है। स्वलिंग में सिद्ध होने वालों की संख्या एक समय में १०८ तक हो सकती है, तब अन्यलिंग में कभी अधिक से अधिक १० और गृहलिंग में ४ होती है। इससे अधिक नहीं हो सकती (उत्तरा. ३६-५३)। यह स्थिति भी स्वलिंग के महत्व को स्पष्ट कर रही है। अतएव जो स्वलिंग की उत्थापना करते हैं, वे सिद्धांत तथा

कन्या पुत्र प्राप्ति के सर्वथा अयोग्य है। जब तक वह दीक्षित हो कर स्व या अन्य नहीं हो जाय, तब तक कुंवारी कन्या के समान, पुत्र प्राप्त करने के योग्य नहीं होती। यदि किसी को अनैतिकता से हो जाय, तो वह भी अवैध होता है और प्रशंसा के योग्य नहीं होता। इसी प्रकार गृहिपन भी मुक्ति साधना में प्रशंसनीय नहीं होता।

उपरोक्त उदाहरण का मूल, आचार्य श्री सागरानन्दसूरिजी का सिद्धचक्र का लेख है।

अन्य प्रकार से हम धन प्राप्ति के उदाहरण भी दे सकते हैं- १ व्यापार, उद्योग सेवादि वैध उपायों से धन प्राप्त करने के समान स्वलिंग-सिद्ध है २ दुराचरण से धन पाने के समान अन्यलिंग-सिद्ध है और ३ चोरी से धन पाने के समान गृहलिंग-सिद्ध है।

राजमार्ग के लोपक हैं।

१२ अन्यलिंग सिद्ध–निर्ग्रंथ-श्रमण के लिंग के अतिरिक्त अन्य मत के साधुओं के लिंग–परिव्राजक आदि के वेश में रहते हुए जो सिद्ध होते हैं, वे 'अन्यलिंग सिद्ध' कहे जाते हैं।

अन्यलिंग में रहते हुए सिद्ध होने वाली भव्यात्मा की स्थिति विशेष प्रकार की होती है। वे पूर्वभव से हलुकर्मी हो कर आते हैं। फिर भी दर्शन-मोहनीय के उदय से उन्हें निर्ग्रंथ-प्रवचन का सुयोग, पहले नहीं मिलता। धर्म-प्रिय होने के कारण, निकट परिचित किसी अन्य धर्म में दीक्षित हो कर वे अपनी साधना करते रहते हैं। विषयों के प्रति विराग और कषायों की मन्दता से, अकाम-निर्जरा करते हुए उनमें इतनी योग्यता प्राप्त हो जाती है कि एक सामान्य निमित्त पा कर भी वे दर्शन-मोह को क्षय कर के, निर्ग्रंथ-धर्म को आत्मा में स्थापन कर लेते हैं। अपूर्व परम धर्म को पा कर वे इतने उत्साहित होते हैं कि शीघ्र ही अप्रमत्त-संयत बन कर, क्षपक-श्रेणी को प्राप्त कर लेते हैं और सिद्ध हो जाते हैं। भाव-परिवर्तन के बाद उनकी तल्लीनता इतनी बढ़ जाती है कि वे उत्तरोत्तर विशुद्ध होते-होते सयोगी-केवली, अयोगी-केवली आदि अवस्थाओं को अन्तर्मुहूर्त में ही पार कर के उसी वेश में सिद्ध हो जाते हैं। उन्हें वेश-परिवर्तन का न तो अवकाश रहता है और न आवश्यकता ही। क्योंकि दर्शन-मोह के त्याग के बाद उनकी जीवन-स्थिति ही स्वल्प रहती है। न तो लम्बे

समय तक श्रमण-धर्म पालन करने की स्थिति होती है उनकी और न व्यवहार पालन की ही। वहाँ केवल भाव स्वलिंग–निर्ग्रंथ-धर्म का भावापेक्षा पालन ही हो सकता है। इसी प्रकार के प्राणी 'अन्यलिंग सिद्ध' होते हैं,–अप्पोच्चा केवलीवत्।

(भगवती ९–३१)

१३ गृहलिंग सिद्ध–ग्रहस्थ के लिंग में रह कर जो सिद्ध होते हैं, वे 'गृहलिंग सिद्ध' कहे जाते हैं।

अन्यलिंग से सिद्ध होने वाली भव्यात्माओं के बनिस्बत गृहस्थ लिंग में सिद्ध होने वाली आत्माएं, पूर्व-जन्म से ही अधिक उज्ज्वल और मँजी हुई होती है। इनका हलुकर्मी-पन उनसे भी विशिष्ट होता है। अन्यलिंग वाले तो उस लिंग में रह कर साधना भी करते हैं, परन्तु इन्हें तो उतना भी नहीं करना पड़ता। भरतेश्वर ने बिना किसी संयम या तप की साधना के ही, मात्र भावों से अन्तर्मुखी हो कर उत्कृष्ट ध्यान के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे हुए ही मात्र भावपरिवर्तन और तन्मयता से ध्यान की श्रेणी पर चढ़ते-चढ़ते सिद्ध गति प्राप्त कर ली। जो अन्तर्मुहूर्त पहले मोह के पाश में बद्ध थी, वही परिणाम पुलटा कर मोह तथा शरीर को नष्ट कर सिद्ध बन गई। यहाँ भी स्वलिंग में आने जितना अवकाश नहीं रहने से गृह-लिंग सिद्ध हुआ जाता है, अन्यथा भरतेश्वर की तरह सलिंग को प्राप्त कर निर्दोष संयम की साधना होती। अन्यलिंग सिद्ध की अपेक्षा गृहलिंग सिद्ध तो विशेष कम होते हैं,–सिद्ध

होने वाले करोड़ों में कोई एक ही होता होगा।

जो लोग अन्यलिंग-सिद्ध और गृहलिंग-सिद्ध जैसी आपवादिक स्थिति को आगे कर के स्वलिंग जैसे राजमार्ग का महत्व गिराते हैं, वे निर्ग्रंथ-धर्म के प्रेमी नहीं हैं, बल्कि अनगार-धर्म की अरुचि उनके हृदय में रमी हुई लगती है। जो जिनेश्वर भगवन्त के धर्म के प्रति अटूट रुचि रखते हैं, वे स्वलिंग का महत्व नहीं घटाते।

जिनके हृदय में स्वलिंग की रुचि नहीं है, जो खुले रूप से स्वलिंग के विरुद्ध प्रचार करते हैं, वे लिंगधारी भी अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, स्वलिंग के कारण ही पा रहे हैं। यदि वे वेश छोड़ कर अन्यलिंगी या गृहलिंगी हो जाय, तो उनकी जमी-जमाई प्रतिष्ठा ही नष्ट हो जाय और जीवन-निर्वाह भी कठिन हो जाय। स्वलिंग के प्रताप से ही वे गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। इस प्रकार स्वलिंग की महिमा को वे स्वयं प्रकट कर रहे हैं।

१४ एक सिद्ध—एक समय में एक ही—अकेले सिद्ध होने वाले।

१५ अनेक सिद्ध—एक समय में अनेक सिद्ध होने वाले।

उपरोक्त पन्द्रह भेद अनन्तर सिद्ध के हैं। परम्पर सिद्ध के भेद तो समय की अपेक्षा से हैं, जैसे—प्रथम समय सिद्ध द्वि समय सिद्ध यावत् संख्यात, असंख्यात और अनन्त समय सिद्ध।

जाव निरन्तर सिद्ध होते रहें, तो अधिक से अधिक आठ, समय तक लगातार—प्रति-समय सिद्ध होते रहते हैं। इसके

बाद विरह पड़ता ही है और विरह काल भी अधिक से अधिक छह मास का हो सकता है। छह मास से अधिक का नहीं होता। एक समय में अधिक से अधिक १०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं, इससे अधिक नहीं हो सकते। एक समय में अधिक से अधिक कौन कितने सिद्ध हो सकते हैं, इसका हिसाब इस प्रकार है–

(१) लिंग की अपेक्षा–नपुंसकलिंगी १०, स्त्रीलिंगी २०, और पुरुषलिंगी १०८ सिद्ध हो सकते हैं।

(२) गृहस्थवेश में ४, अन्यलिंग में १०, स्वलिंग में १०८।

(३) समुद्र में २, नदियों में ३, उर्ध्वलोक में–मेरु आदि की चूलिका पर ४, अधोलोक में २० और तिर्यक्लोक में १०८।

(४) उत्कृष्ट अवगाहना (५०० धनुष) से मात्र २, जघन्य (दो हाथ) से ४ और मध्यम से १०८।

ये सारे भेद लिंग, वेश, क्षेत्र, अवगाहना आदि बाह्य कारणों से सम्बन्धित हैं। आन्तरिक कारण तो सब के लिए समान ही है, और वह इस प्रकार है,–

सर्वप्रथम दर्शनमोह को नष्ट करना, फिर चारित्र-मोह को धर्म और शुक्ल-ध्यान के बल से जड़मूल से नष्ट कर के वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाना। इसके बाद मन, वचन और काया के योग से पृथक् हो कर, पर्वत के समान अडोल–निष्कम्प हो कर सिद्ध होना।

यह आन्तरिक प्रक्रिया तो सभी के होती है, फिर भले ही मोह को नष्ट करने में और सयोगावस्था में. कर्म के अनुसार किसी को अधिक समय रहना पड़ता हो और किसी को कम। किसी को कर्म की स्थिति बराबर करने के लिए 'केवली-समुद्घात' करना पडे और किसी को नहीं।

सभी सिद्ध भगवंत आत्मिक गुणों से, पूर्ण रूप से समान होते हैं। किसी में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं रहता, फिर भले ही उनमें से कोई यहाँ 'तीर्थंकर' के समान विशेष वैभवशाली रहे हों और कोई सामान्य केवली रहे हों। देशोन कोड़-पूर्व तक सयोगी केवली रहे हों, या अन्तर्मुहूर्त ही रहे हों। जिस प्रकार करोड़ों केवलज्ञानी के केवलज्ञानादि भाव गुणों में कोई अन्तर नहीं रहता, वैसे ही सिद्धों में भी अन्तर नहीं रहता।

जब योग का निरुंधन हो कर आत्मा, जड़ शरीर के संयोगों को छोड़ती है, तब पहले तो वह खाली स्थानों को पूर कर घन रूप बनती है, फिर शरीर के योगों से जो कम्पन होता रहता था—स्पन्दन होता था, वह रुक कर वह निष्कम्प (पर्वत के समान स्थिर एवं अडोल) हो जाती है। इस प्रकार स्थिर बनी हुई आत्मा, शरीर सम्बन्ध छूट जाने से एकदम निकल कर उसी समय सिद्ध-स्थान पर जा कर विराजमान हो जाती है।

सिद्ध-स्थान

यह लोक, चौदह रज्जु ÷ प्रमाण ऊँचा है। इसमें से ७ रज्जु से कुछ अधिक का अधोलोक है और सात रज्जु से कुछ कम का ऊर्ध्वलोक है। मध्य (तिर्च्छा) लोक अठारह सौ योजन है, यह मेरु पर्वत के रुचक प्रदेशों से ९०० योजन ऊपर ऊर्ध्वलोक में और ९०० योजन नीचे अधोलोक में है।

एकेन्द्रिय जीव तो समस्त लोक में भरे हुए हैं, परंतु अधोलोक में भवनपति देव और नरक जीव हैं। मध्य लोक में व्यन्तर, ज्योतिषी, मनुष्य और तिर्यंच जीव हैं। ऊर्ध्वलोक में वैमानिक देव हैं और सब से ऊपर लोकाग्र पर सिद्ध भगवन्त हैं।

अधोलोक में दुःख अधिक है। सब से नीचे सातवीं नरक में महान् दुःख—दुःख ही दुःख है। उसके ऊपर छठी में उससे कम दुःख है, यों दुःख में कमी होते-होते प्रथम नरक में है तो दुःख ही, पर नीचे की नरक से कम। मध्य-लोक में दुःख और सुख दोनों है। दुःख है वह भी नरक की अपेक्षा कम।

÷ रज्जु अथवा राजू असंख्यात करोड़ योजन का होता है। तिर्च्छा लोक एक रज्जु प्रमाण लम्बा है, जिसमें असंख्य द्वीप समुद्र समा गये हैं। 'स्वयम्भूरमण' समुद्र की पूर्व वेदिका से लगा कर पश्चिम वेदिका तक की दूरी एक रज्जु प्रमाण बताई गई है। एक रज्जु की दूरी को समझने के लिये बताया गया है कि—एक शक्तिशाली देव, निमेष मात्र में एक लाख योजन जाता है, वह यदि छः मास तक उसी शीघ्र गति से निरन्तर चलता ही रहे, उतने क्षेत्र को एक 'राजू' प्रमाण कहते हैं।

ऊर्ध्व लोक में सुख की अधिकता है। ऊर्ध्व लोक में सुख की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। प्रथम स्वर्ग के देवों की अपेक्षा सर्वार्थसिद्ध के देव अत्यधिक सुखी हैं। जीव, ज्यों-ज्यों ऊपर उठता जाता है, त्यों-त्यों उसके सुख बढ़ते जाते हैं। सब से ऊपर लोक के शिखर रूप, सिद्ध स्थान (सिद्ध-शिला) है, जिस पर सिद्ध भगवन्त विराजमान है।

लोक में आठ पृथ्वियाँ मानी गई है, जिनमें से सात तो नरक पृथ्वियाँ है और आठवीं 'सिद्धशिला'। यह सिद्धशिला, सर्वार्थसिद्ध महा विमान के ऊपर की थूभिका से बारह योजन ऊपर रही हुई है। इसके आठ नाम इस प्रकार हैं–

(१) ईषत्–छोटी। रत्नप्रभादि अन्य सात पृथ्वियों की अपेक्षा लम्बाई चौड़ाई में सब से छोटी।

(२) ईषत् प्राग्भारा–अन्य पृथ्वियों की अपेक्षा भार में सब से कम।

(३) तन्वी–पतली

(४) तनुतन्वी-लोक प्रसिद्ध पतले पदार्थों में अधिक पतली। पतली होती हुई चरिम भाग में मक्खी के पंख से भी अधिक पतली।

(५) सिद्धि–सिद्धात्माओं के समीप होने से, अथवा कृतकृत्य जीवों का स्थान।

(६) सिद्धालय–सिद्धों का स्थान।

(७) मुक्ति–समस्त कर्मों से मुक्त जीव जहाँ स्थित होते हैं।

(८) मुक्तालय–मुक्त जीवों का स्थान।

सिद्धशिला पैंतालीस लाख योजन लम्बी मनुष्य क्षेत्र के बराबर है *। मध्य लोक में अरिहन्त भगवन्त भी इतने ही क्षेत्र से सिद्ध होते हैं। ढ़ाई द्वीप और दो समुद्र प्रमाण क्षेत्र, मनुष्य-क्षेत्र है। यहाँ जिस स्थान पर अरिहन्त भगवान् देह त्याग कर सिद्ध होते हैं, ठीक उसी सीध में लोकाग्र पर उनकी स्थिति होती है। देह तो यहीं पड़ा रहता है और मुक्तात्मा देह छोड़ते ही उसी समय—एक समय का भी अन्तर किए बिना, सिद्ध स्थान पर जा कर स्थिर हो जाते हैं। जिस सूक्ष्म समय में यहाँ देह छोड़ते हैं, उसी सूक्ष्म समय में लगभग सात राजू—असंख्यात कोड़ाकोड़ योजन दूर ऊपर जा कर सदा के लिए स्थित हो जाते हैं।

शंका—जीव परभव—एक स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर कर्म के उदय से जाता है। बिना उदय भाव के स्थानान्तर नहीं होता और मुक्तात्मा तो कर्म से रहित होती है, फिर उनका मध्य-लोक में देह छोड़ कर लोकाग्र पर गमन किस कारण से होता है ?

---

* मनुष्य क्षेत्र की लम्बाई इस प्रकार है—जम्बूद्वीप के चारों ओर २ लाख योजन का लवण समुद्र, ४ लाख योजन का धातकीखण्ड, ८ लाख योजन का कालोदधि समुद्र, इसके बाद १६ लाख योजन के पुष्करवर द्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत तक आधा—८लाख योजन का पुष्करार्ध द्वीप। ये कुल २२ लाख योजन हुए। ये २२ लाख योजन पूर्व में और इतना ही पश्चिम में मिला कर ४४ लाख योजन हुए और एक लाख का जम्बूद्वीप है ही। यों मनुष्य-क्षेत्र की कुल लम्बाई ४५ लाख योजन हुई।

समाधान– स्वभाव से ही आत्मा अरूपी है। पहले वह कर्म के बन्धनों से बँधी हुई और भारी थी, जब बन्धन टूट गये और भार हट गया, तो सूखी फली के फटने से उछले हुए बीज की तरह, अथवा भार हटने से हलकी बनी हुई तुम्बी के जल के भीतर से ऊपरी सतह पर आने की तरह आत्मा भी एकदम ऊँची उछल कर लोक की सपाटी पर आ जाती है। यह उसका स्वभाव है। भारी चीज नीचे बैठती है और ज्यों-ज्यों हलकापन आता है,त्यों-त्यों अपने आप ऊपर उठती है। इसी प्रकार पुद्गल के भार से सर्वथा दूर हुई आत्मा, तिच्छे लोक में रह ही कैसे सकती है? उसका निज एवं शाश्वत स्थान ही लोकाग्र पर स्थित–– सिद्ध स्थान है। उस स्थान पर या तो एकेन्द्रिय जीव जा सकते हैं, या अनिन्द्रिय सिद्ध ही। अन्य कोई जीव नहीं जा सकता। एकेन्द्रिय जीव तो लोक व्यापी हैं, इसलिये सर्वत्र होते हैं। अनिन्द्रिय सिद्ध जीव, सारे लोक में केवल लोकाग्र पर ४५ लाख योजन के जितने लम्बे स्थान में ही हैं, सर्वत्र नहीं। जहाँ एक सिद्ध भगवान् हैं, वहाँ दूसरे अनंत सिद्ध भगवान् भी हैं। अनंत काल, अनन्त पुद्गल-परावर्तन से सिद्ध होते आये, वे सभी उतने ही स्थान में रहे हैं और भविष्य में भी अनन्त सिद्ध होंगे। वे भी इतने ही और इसी स्थान में रहेंगे। इससे उन्हें कोई बाधा नहीं होती। बाधा जो होती है, वह रूपी पुद्गल के सम्बन्ध से। अरूपी के लिये बाधा का कोई कारण ही नहीं होता।

शंका—अनन्त सिद्ध भगवान् असंख्यात-प्रदेशी लोक के

असंख्यातवें भाग प्रमाण सिद्ध स्थान में कैसे समा सकते होंगे ? हम देखते हैं कि—जिस स्थान में एक मनुष्य बैठता है, वहाँ उतनी जगह में दूसरा मनुष्य नहीं बैठ सकता, क्योंकि वह स्थान उस मनुष्य ने पहले ही रोक रखा है, फिर उस जगह दूसरे के लिए कुछ भी अवकाश नहीं रहता, तब जितनी जगह में एक सिद्ध रहे हुए हैं, उसी में अनन्त सिद्ध कैसे समा सके होंगे ?

समाधान—इस शंका का ठीक समाधान, रूपी-अरूपी का भेद समझने से सरलता से हो सकता है । जितने स्थान में एक मनुष्य बैठता है, उतने स्थान में हजारों, लाखों कुंथुए समा सकते हैं । चार स्थावर में से प्रत्येक के सूक्ष्म जीव, असंख्य और निगोद के अनन्त तथा बादर वायुकाय के असंख्य जीव समाये हुए हैं । जब कि सब के आत्म-प्रदेश समान ही हैं । फिर एकांत अरूपी सिद्धात्मा, अनन्त समा जाय, उसमें आश्चर्य ही क्या ?

प्रत्यक्ष उदाहरण है कि एक कमरे में हम एक दीपक रखें, तो उसका प्रकाश सारे कमरे में व्याप्त हो जायगा । यदि हम उसी कमरे में एक दूसरा दीपक रखेंगे, तो उसका प्रकाश भी उसी व उतने ही स्थान में समा जायगा और सौ-दो सौ दीपक रखेंगे, तो उनका प्रकाश भी समा जायगा । जब रूपी पुद्गल के इस प्रकार एक ही और उतने ही स्थल में विशेष रूप में समाने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती, तो अरूपी के लिए तो कहना ही क्या ?

हमारी जानकारी बचपन में कितनी थी, फिर उम्र के साथ जानकारी बढ़ने लगी । कई ऐसे व्यक्ति हैं कि अनेकों

विषयों का गम्भीर और विस्तृत ज्ञान धारण किए हुए हैं और उससे हजारों को शिक्षा देते हैं। इतनी अधिक जानकारी से क्या उन पर किसी प्रकार का बोझ बढ़ा ? नहीं, बोझ और भार में जो शारीरिक स्थिति अल्पज्ञ की है, वही विशेषता और सर्वज्ञ की भी। जिस प्रकार अधिक जानकारी से जीव वजनदार नहीं होता, उसी प्रकार अनन्त सिद्धों के एक स्थान पर रहने से उस स्थान में भीड़ या असुविधा नहीं होती, क्योंकि ज्ञान और आत्मा दोनों ही अरूपी है।

पौद्गलिक वस्तु—रुपया, पैसा, धान्य, वस्त्र आदि कितनी ही अधिक मात्रा में किसी एक व्यक्ति के पास हो, किन्तु उसमें से किसी को कुछ दिया जाय, तो कमी होती ही है। यदि सभी दे दिया जाय, तो दाता खाली हो जाता है। किन्तु ज्ञान-दान ऐसा है कि वह हजारों-लाखों को देने पर भी कम नहीं होता। दाता ज्ञान-भंडार से भरपूर रहता है, क्योंकि ज्ञान अरूपी है। वह लाखों को दिये जाने पर भी कम नहीं होता। जिस प्रकार ज्ञान में कमी नहीं होती, उसी प्रकार अनन्त सिद्ध, उस स्थान में रहे, तो स्थान की कमी नहीं होती और ज्ञाता के ज्ञान-कोष में यदि अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान जितना समस्त अनन्तानन्त ज्ञान आ जाय तो भी एक रत्ती भर भी भार नहीं बढ़ता। जिस प्रकार अरूपी वस्तु भार नहीं बढ़ाती, उसी प्रकार स्थान भी नहीं रोकती।

चोफरसी रूपी पुद्गल भी वजन का भार नहीं बढ़ाते। निगोद के अनन्त जीव ऐसे हैं कि जो लोकाग्र पर (ऊपर की

सपाटी पर) रहते हैं, और उनके कर्मों का भार हम से भी अत्यधिक है। वे कर्मों से हम से अधिक भारी होते हुए भी हम से ऊँचे स्थान पर रहते हैं।

इत्यादि विचार से समझ में आ सकेगा कि अरूपी आत्मा से स्थान की संकड़ाण नहीं होती।

इस प्रकार लोकाग्र पर सिद्ध भगवान् अनन्त आत्मिक आनन्द में रहे हुए हैं। उनके पास अव्याबाध सुखों की कोई सीमा नहीं है।

शंका—सिद्ध आत्माओं को किस बात का सुख है, जब कि वहाँ सुख की कोई भी सामग्री नहीं है ?

समाधान—जिसने सामग्री में सुख मान लिया है, उसे तो वहाँ किसी प्रकार का सुख दिखाई नहीं देगा, किंतु यदि वह अपनी इस धारणा को थोड़ी देर के लिए अलग रख कर विचार करेगा, तो उसे मालूम होगा कि वास्तव में सुख का कारण पौद्गलिक वस्तु नहीं, अपनी आत्मा ही है। यदि वस्तु ही सुख का कारण होती, तो सभी को वह सुख ही देती। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जो वस्तु एक के लिए सुख-दायक लगती है, वही दूसरे के लिए दुःखदायक भी होती है। जैसे कि—जो मिष्टान्न एक को सुखदायक होता है, वही दूसरे के रोग में वृद्धि करने वाला दुःखदायक भी हो जाता है। बन्दूक एक के लिए रक्षक और शिकारी के लिए मनोरंजन का साधन बनती है, तो मरने वाले के लिए प्राणघातक—महादुःख-दायक हो जाती है। रेडियो कुछ के लिए प्रमोद का साधन

है, तो कुछ उसे निद्रा में बाधक—दुःखदायक मानते हैं। धन-सम्पत्ति को सुख का परम साधन माना जाता है, किंतु उसकी प्राप्ति और रक्षण में कितना दुःख रहा हुआ है ? कई हत्याएँ मात्र धन के कारण ही हुई व होती है। धन के लिए पुत्र, पिता को व भाई, भाई को मार देता है। तात्पर्य यही कि पौद्गलिक सभी साधन एकान्त सुखदायक नहीं है, फिर ये नाशवान् भी हैं। या तो ये साधन जीव को दुःखी हालत में छोड़ कर चले जाते हैं, या जीव ही इन्हें छोड़ कर मौत के मुँह में चला जाता है। यही बात कुटुम्ब परिवार के विषय में भी है। अतएव आत्मार्थी-जन ऐसे नाशवान, अस्थायी एवं अन्त में दुःख रूप परिणाम वाले भौतिक सुख को महत्व नहीं देते। वास्तविक सुख तो आत्मिक ही है।

एक व्यक्ति अपने साधारण एवं अल्प साधनों में ही संतुष्ट है। उसने अपनी आत्मा को अधिक तृष्णा से विरत कर लिया, तो न तो उसे अधिक प्राप्ति के लिए प्रपंच करना पड़ेगा और न अनीति का आश्रय लेना होगा। उसकी आत्मा कितनी हलकी होगी ? उसके सिर पर चोर-डाकुओं का भय भी नहीं रहेगा। वह सुख की नींद सोएगा। तृष्णा और आसक्ति, ममत्व और लोभ, ये ही दुःख के कारण हैं। जिस विरत मनुष्य के हृदय में से ममत्व और तृष्णा निकल गई, उसकी आंशिक मुक्ति तो उसी समय हो गई। उसके हृदय का बहुत-सा भार हट गया और जिसकी स्वजनादि और अपने शरीर पर भी आसक्ति नहीं रही, उसे किस बात का दुःख है ? उस संतोषी

जितना सुख तो किसी कोट्याधिपति और चक्रवर्ती सम्राट को भी नहीं हो सकता। संतोष (राग-द्वेष के घटने) से, आत्मा में स्वाभाविक सुख की अनुभूति एवं प्रसन्नता बनी रहती है। यदि किसी के शरीर सम्बन्धी कुछ दुःख रहता भी है, तो शरीर के सर्वथा अभाव होने—अशरीरी बनने के साथ ही समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है और आत्मिक परम आनन्द की ऐसी प्राप्ति होती है, जो सदा-सर्वदा के लिए स्थिर एवं अमिट हो जाती है।

दुःख का कारण इच्छा (प्राप्ति की आशा) एवं संयोग सम्बन्ध है। इनके अभाव से दुःख का भी अभाव हो जाता है। दुःख के अभाव से आत्मा का दबा हुआ सहज आनन्द (निज-गुण) अपने-आप प्रकट हो जाता है और वास्तव में आत्म प्रसन्नता ही तो सुख है। मैंने ऐसे अनेक महात्माओं के दर्शन किये, जो भयंकर असाता वेदनीय के उदय में भी शांति धारण किए हुए थे। जयपुर में पू. उपाध्याय श्री हस्तीमलजी म. सा. के समीप स्वामी श्री अमरचन्दजी महाराज थे। जिनके गले की नली में केन्सर था और यह घातक रोग है। किंतु दुर्बल हो जाने पर भी आपके चेहरे से यह ज्ञात नहीं होता था कि आपको कोई दुःख है। आप सदैव ज्ञान ध्यान और स्मरण में रत रहते थे और कोई पूछता, तो प्रसन्न वदन से यही कहते थे—'आनन्द है'। हमारे यहाँ सैलाना में ही स्व. श्री मज्जवाहिराचार्य, पू. श्री मन्नालालजी म., उपा. श्री हस्तीमलजी महाराज के उग्र वेदना हो गई थी, किन्तु उनकी शांति के

आगे डॉक्टर भी आश्चर्यचकित थे।

हाँ, तो पौद्गलिक मोह के अभाव से ही अपने निजी आनन्द का प्रादुर्भाव अपने-आप में से ही होता है और वही सच्चा सुख है। सिद्ध भगवंतों में वही सुख है। इस सुख की तुलना में पौद्गलिक सुख तुच्छाति-तुच्छ है। सारे संसार का, नरेन्द्रों और समस्त देवेन्द्रों का भौतिक सुख, एक सिद्ध भगवंत के आत्मिक सुख के अनन्तवें भाग में भी नहीं आता। जो बुद्धिमान हैं, जिनकी बुद्धि में मोह का विकार प्रबल नहीं है, वे तो संकेत मात्र से समझ जाते हैं, किंतु बहुतों के समझ में यह बात नहीं भी आती है, क्योंकि जीव अनादि काल से भौतिक सुख को ही सुख रूप मानता आया। ऐसे जीवों को सिद्ध भगवंतों का सुख समझाने के लिए आगम में एक उदाहरण इस प्रकार आया है—

एक ऐसी छोटी-सी भील-बस्ती थी कि जिसके आस-पास नगर तो ठीक पर कोई अच्छा ग्राम भी नहीं था। अनेक योजन दूर तक केवल विशाल अटवी ही थी। वहाँ के निवासियों ने न तो कभी नगर के दर्शन किए थे, न नगरवासियों के ही। फिर नागरिकों के उपभोग की उत्तम वस्तुओं को तो वे जाने ही क्या? उनके लिए खाने की चीजें जंगली बेर, बड़-पीपल के फल थे और वैसे ही जंगली फल और कोदों, सामा आदि क्षुद्र धान्य थे। उन्होंने उत्तम फलों या मिष्टान्नों का नाम तक नहीं सुना था। रहने के लिए घास-फूस की झोंपड़ियाँ ही थी और पहनने को वृक्ष की छाल और पशुओं की खाल।

एक बार एक राजा शिकार खेलता हुआ उस अटवी में चला गया। उसने वन में घूमते हुए एक वनचर मनुष्य को देखा और अनुचरों की सहायता से उसे पकड़ कर राजधानी में ले आया। वहाँ उसे राज्य के मेहमान के समान रखा। उसकी बड़ी आवभगत की। महलों में ठहराया। बैठने के लिए उच्चासन, सोने के लिए स्वर्णजटित पलंग, जिस पर मखमली गद्दे। खाने को विविध प्रकार के मिष्टान्न और व्यञ्जन। विविध प्रकार के वादिन्त्र, गान, तान, नृत्य और नाटक देखने को मिले। बढ़िया इत्र उसके बदन पर लगाया गया। सवारी के उत्तम वाहन का भी उपयोग उसने किया। इस प्रकार राजा की कृपा से वह कुछ दिन बड़े आनन्द से वहाँ रहा। उसका मन अपने कुटुम्ब को मिलने में भी लगा रहता था। राजा ने उसे वापिस उसी जगह पहुँचा दिया, जहाँ से उसे पकड़ा था।

जब वह अपने घर पहुँचा, तो उसके संबंधी और गाँव वाले उससे लुप्त होने का हाल पूछने लगे। उसने बताया कि—मैं एक नगर में गया और बड़े भारी महल में ठहरा। वहां के आसन, पलंग, गादी, तकिये, गान, वादिन्त्र, नृत्य, नाटक खाने के मिष्टान्न आदि सभी सामग्री का वर्णन किया, किंतु सुनने वाले सब चकित थे। उनकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि—नगर क्या होता है, महल किसे कहते हैं, हलुआ भी क्या बड़ और पीपल के फल जैसा मीठा होता है? नाटक किसे कहते हैं?

यह कैसो बातें करता है ? क्या बेर से बढ़ कर भी कोई मीठी चीज हो सकती है ?' क्या इस छाल से भी मखमल अच्छा होता है ? ये सब बातें उन्हें वह कैसे समझावे ? वहां ऐसी कौन-सी वस्तु है कि जिसका उदाहरण दे कर वह अपने अनुभव की प्रीति करावे । उन्हें समझाना तो दूर रहा, वह उनकी दृष्टि में पागल, झूठा और वाचाल ठहरा । क्योंकि वे बातें तो उसके अनुभव-गम्यही थीं । उनको समझाने के लिए वहां वैसा कोई उदाहरण ही नहीं था । इसी प्रकार सिद्ध भगवान के सुख भी अनुभव से समझने के योग्य हैं । इस भौतिक जगत् में उस आत्मिक उत्कृष्ट सुख का उदाहरण कहाँ मिल सकेगा ?

सिद्ध भगवान् का सुख अपना निजी आत्म सुख है । वह अपनी ही वस्तु है । परन्तु आज हमें इसकी अनुभूति नहीं होती--इसलिए कि हम 'पर' की भूलभुलैया में बेभान हो गये और अपने-आपको भूल गये । हमने 'पर' में अपनेपन की भावना की । 'स्व' को भूला कर 'पर' को अपना माना । इसीसे स्व से वञ्चित रहे । स्व को प्राप्त करने अर्थात् आत्मा में दबे हुए अपने खुद के अनन्त सुखों को प्रकट करने के लिए हमें सिद्ध भगवंतों की भक्ति करनी पड़ेगी । उस परम विशुद्ध अविकारी स्वरूप के अवलम्बन से हमें अपना भगवद् स्वरूप प्रकट करना है ।

प्रश्न—अरिहंत भगवान् की भक्ति और ध्यान तो सरलता से हो सकता है, क्योंकि वे साकार हैं, सशरीर हैं, किन्तु सिद्ध

भगवंत तो अशरीरी—निराकार हैं। उनकी भक्ति और ध्यान कैसे किया जाय ?

उत्तर—अरिहंत भगवान् का ध्यान भी आकार में नहीं उलझ कर, उनकी निर्मल आत्म-दशा के चिन्तनपूर्वक होना चाहिए। यदि उनकी विशुद्ध दशा का चिन्तन नहीं किया और शारीरिक आकृति आदि में ही अटके रहे, तो उससे वास्तविक लाभ नहीं होगा। हमें अपनी आत्मा में वैसे गुण जगाना है, तो आत्मा का ही आलंबन लेना होगा। अरिहंत भगवान् की विशुद्ध दशा के चिंतक के लिए सिद्ध अवस्था का स्मरण एवं अभ्यास करते-करते सरल हो जाता है। वह अपनी आत्मा में भी क्षणभर के लिए परम विशुद्ध अवस्था का आरोपण कर शांति का आंशिक अनुभव करता है, मानो सिद्ध भगवंत की प्रतिष्ठा अपने मन-मन्दिर में कर के अपने हृदय को मल से रहित शुद्ध बना दिया हो। इस प्रकार पवित्र ध्यान—धर्म-ध्यान के अभ्यास से पवित्र होती हुई आत्मा इतनी विशुद्ध हो जाती है कि कभी शुक्लध्यान में प्रवेश हो जाती है और क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर के अरिहंत दशा को प्राप्त कर लेती है।

अरिहंत पद पर विश्वास होना जितना सरल है, उतना सिद्ध पद पर नहीं। अरिहंत पद तो सहज ही बुद्धिगम्य हो सकता है। क्षेत्र विशेष और काल विशेष में कई भाग्यशालियों के लिए प्रत्यक्ष भी होता है। जिसके प्रमाण आज भी जैन के अतिरिक्त प्राचीन वैदिक एवं बोद्ध साहित्य में उपलब्ध है। किंतु सिद्ध

भगवान् तो सदैव परोक्ष ही रहते हैं। परम विशुद्ध-अरूपी आत्मा, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी के सिवाय किसको प्रत्यक्ष हो सकती है ? इसीसे तो पूर्वधर तक गड़बड़ी में पड़ जाते हैं। जिस प्रकार मोक्ष तत्त्व की श्रद्धा होना अत्यन्त कठिन है, उसी प्रकार मुक्त सिद्ध भगवंतों की श्रद्धा होना भी कठिन है। किन्तु जिस भव्यात्मा पर दर्शन-मोह का प्रभाव नहीं हो, वह विकास की तरतमता एवं आत्मानुभूति आदि से आत्मा के अरूपी स्वरूप को समझ कर श्रद्धान करता है।

सिद्ध भगवान् की भक्ति में बाधक होती है--पर दृष्टि। इसे दूर करना सरल नहीं। इसलिए पहले शुभ के अवलंबन से अशुभ को छोड़ना चाहिए। अप्रशस्त भावों का त्याग करना चाहिए। प्राणातिपातादि अठारह पापों का त्याग, परम देव के शुभ अवलम्बन से होता है। परम पवित्र आत्मा के अवलंबन से अपनी आत्मा को तद्रूप बनाया जाता है।

सिद्ध भगवान् का स्मरण 'नमो सिद्धाणं' इस मन्त्र से भी किया जाता है। स्मरण करते समय उनके प्रति अत्यंत विनम्र भाव रखते हुए उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। सिद्ध शरण ग्रहण करने का संक्षिप्त सूत्र है--**"सिद्धे सरणं पवज्जामि"** और गुण स्मरणपूर्वक शरण ग्रहण करने के सूत्र तथा गाथाएँ इस प्रकार है--

सूत्र--"पहीणजरमरणा अवेअकम्मकलंका पणट्ठवाबाहा केवलनाणदंसणा सिद्धपुरनिवासी निरुवमसुह-

संगया, सव्वहा कयकिच्चा सिद्धा सरणं ।"

गाथा–कम्मट्ठक्खयसिद्धा, साहाविअनाण-दंसण-समिद्धा ।
सव्वट्ठलद्धि सिद्धा, ते सिद्धा हुंतु मे सरणं ॥१॥

तिअलोअमत्थयत्था, परमपयत्था अचिंतसामत्था ।
मंगलसिद्ध पयत्था, सिद्धा सरणं सुहपसत्था ॥२॥

मूलुक्खय पडिवक्खा, अमूढलक्खा सजोगिपच्चक्खा ।
साहेविअत्तसुक्खा, सिद्धा सरणं परमसुक्खा ॥३॥

पडिपिलिअपडिणीया, समग्गझाणग्गिदड्ढ-भवबीआ ।
जोईसरसरणीया, सिद्धा सरणं सुमरणीया ॥४॥

पावियपरमाणंदा, गुणणीसंदा विइण्ण भवकंदा ।
लहुईकयरविचंदा, सिद्धा सरणं खविअदंदा ॥५॥

उवलद्धपरमबंभा, दुल्लहलंभा विमुक्कसंरंभा ।
भुवणघर-धरणखंभा, सिद्धा सरणं निरारंभा ॥६॥

इस प्रकार परम श्रेष्ठ सिद्ध भगवान् की शरण ग्रहण कर के निर्भय बनना चाहिए। अपनी निर्भयता ही 'विजेता'–अरिहन्त बनाने वाली है।

सिद्ध भगवान् की स्तुति निम्न गाथाओं से भी की जा सकती है––

सिद्धाणं बुद्धाणं पारगयाणं, परंपरगयाणं ।
लोअग्ग मुवगयाणं, नमोसया सव्वसिद्धाणं ॥१॥

णट्ठट्ठ मयट्ठाणे, पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठ संठाणे ।
परमट्ठ णिट्ठियट्ठे, अट्ठ गुणाधिसरं वंदे ॥२॥

भाषा में 'तुमे तरणतारण', 'सेवोसिद्ध सदा जयकार' आदि स्तुतियें भी यथा-रुचि उपयोग में ली जा सकती है।

तात्पर्य यह कि सिद्ध पद की उत्कृष्ट आराधना कर के अपने सोये हुए सिद्ध भाव को जाग्रत करना चाहिए और समस्त आवरणों का अन्त कर के सिद्ध पद प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

सिद्ध पद की उत्कृष्ट आराधना करते हुए यदि भावों में परम उल्लास आवे, उत्कृष्ट रस आवे, तो परम पुण्य प्रकृति—तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर के अरिहन्त पद प्राप्त किया जा सकता है।

जिस लोकोत्तर मार्ग का अनुसरण कर के सिद्ध भगवन्तों ने अपूर्व सिद्धि प्राप्त की, हम भी उस मार्ग पर चल कर, उस परम सिद्धि को प्राप्त करें।

प्रवचन भक्ति

अरिहंत और सिद्ध भगवान् की भक्ति के बाद तीसरा उपाय प्रवचन-भक्ति है। प्रवचन का अर्थ है—जिनेश्वरों का

उपदेश, जो द्वादशांग में गणधर भगवन्त द्वारा संग्रहित हुआ है। प्रवचन को हम 'जिनवाणी' भी कहते हैं। 'जिनागम' कहें या 'निर्ग्रंथ-प्रवचन' कहें—एक ही बात है।

दस पूर्वधर से लगा कर चौदह पूर्वधर और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का कहा हुआ वचन, आगम है—निर्ग्रंथ-प्रवचन है। इस निर्ग्रंथ-प्रवचन के अनुकूल, इसके मूल भावों की मर्यादा में रह कर, संक्षिप्त भावों को स्पष्ट करने वाला निर्युक्ति आदि साहित्य तथा उपदेश, व्याख्यानादि भी निर्ग्रंथ-प्रवचन कहलाता है।

निर्ग्रंथ-प्रवचन मोक्षमार्ग का निर्देशक है ..... "सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं ....। जो मोक्ष मार्ग का यथाथ प्रदर्शक नहीं हो कर संसार-मार्ग का प्रेरक हो, वह निर्ग्रंथ-प्रवचन नहीं हो सकता, वह सग्रन्थ-प्रवचन है। वह जन्म-मरण का ही मार्ग है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप धर्म एवं आचार—ये सब निर्ग्रंथ-प्रवचन में ही समाविष्ट हैं।

निर्ग्रंथ-प्रवचन का धारक एवं प्रचारक चतुर्विध संघ होता है। इसलिए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ भी 'प्रवचन' कहलाता है। तीर्थ की प्रवृत्ति तीर्थंकर के उपदेश से होती है। तीर्थ की उत्पत्ति का आधार ही निर्ग्रंथ-प्रवचन है। तीर्थाधिपति के प्रथम उपदेश-प्रवचन के बाद तीर्थ की स्थापना होती है। इसलिए निर्ग्रंथ-प्रवचन के फलस्वरूप निष्पन्न हुए तीर्थ को भी 'निर्ग्रंथ-प्रवचन' कहा गया है। कार्य में कारण का उपचार होना आप्तजन सम्मत है। अतएव चतुर्विध संघ भी निर्ग्रंथ-प्रवचन है। श्री जिनभद्रगणि क्षमा-

श्रमण ने अपने 'जीतकल्पसूत्र' के भाष्य की गाथा १ से ३ तक 'प्रवचन' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है;--

"पवयण दुवालसंगं, सामाइयमाइ-बिंदुसारंतं।
अहव चउव्विह संघो, जत्थेव पइट्ठियं नाणं ॥१॥
अहवा पगयपसत्थं, पहाणवयणं व पवयणं तेण।
अहव पवत्तयतीई, नाणाई पवयणं तेण ॥२॥
जीवाइ पयत्था वा, उवदंसिज्जंति जत्थ संपुण्णा।
सो उवाएसो पवयण, तम्मि करेत्ता णमोक्कारं" ॥३॥

अर्थात्--सामायिक से लगा कर बिन्दुसार पर्यन्त-सम्पूर्ण दृष्टिवाद, चतुर्विध संघ और जिसमें ज्ञान की प्रतिष्ठा होती है, अथवा कल्याणकारी प्रधान--उत्कृष्ट वचन, प्रवचन कहलाता है। जिसके द्वारा ज्ञानादि में प्रवृत्ति होती है, जिस उपदेश में जीवादि पदार्थों का सम्पूर्ण रूप से उपदेश हुआ है, वह उपदेश 'प्रवचन' कहलाता है।

तात्पर्य यह कि चतुर्विध संघ भी 'प्रवचन' कहलाता है। वही संघ, प्रवचन कहलाता है--जिसकी प्रवचन और प्रवचनकार पर पूर्ण एवं अटूट श्रद्धा हो, जो निर्ग्रंथ-प्रवचन को ही सर्वोत्तम मानता हो, जिसकी श्रद्धा-प्ररूपणा जिनोपदेशित आगम के अनुकूल हो।

जिसकी निर्ग्रंथ-प्रवचन में श्रद्धा नहीं, जो द्वादशांग के आशय के विपरीत श्रद्धा रखे, प्ररूपणा करे, प्रचार करे और निर्ग्रंथ-प्रवचन से कुप्रवचन का समन्वय करे--समान बतलावे, वह

न तो प्रवचन में गिना जाता है, न वास्तविक रूप से संघ का सदस्य है। वह कुप्रावचनी से भी अधिक बुरा है, क्योंकि वह निर्ग्रंथ-प्रवचनी कहाते हुए भी उसके महत्व को गिराता है और उसके प्रतिकूल प्रचार करता है।

सब से पहिले यह समझना आवश्यक है कि 'निर्ग्रंथ-प्रवचन' किसे कहना ? यों तो जैन शास्त्र के नाम से अनेक पुस्तकें और ग्रन्थ हैं। सैकड़ों उपदेशक रोज उपदेश देते हैं। क्या यह सभी निर्ग्रंथ-प्रवचन है ? इस पर विचार करना चाहिए।

निर्ग्रंथ-प्रवचन, सावद्य विधान नहीं करता। संवर और निर्जरा की साधना से मोक्ष साधने का उपदेश करता है। विरति, त्याग, प्रत्याख्यान से सांसारिक प्रवृत्तियों को रोकने और आत्मा पर लगे हुए कर्म-मल को हटा कर शुद्ध करने की प्रेरणा देता है। निर्ग्रंथ-प्रवचन निवृत्ति-प्रधान है। बन्धजन्य क्रिया की निवृत्ति और मोक्ष-साधना में प्रवृत्ति, निर्ग्रंथ-प्रवचन का लक्षण है।

निर्ग्रंथ-प्रवचन के नाम से अनेक प्रकार के घोटाले हुए। सावद्य विधान हुए। आरंभ की प्रेरणा मिली। सांसारिक प्रवृत्तियें फैली। गर्भाधानादि १६ संस्कार और अनेक प्रकार के सावद्य विधान करने वाले शास्त्र रचे गये। देव-द्रव्यादि और पूजा-प्रतिष्ठादि कई प्रवृत्तियों का निरूपण हुआ। वर्तमान युग में निर्ग्रंथ-प्रवचन के बहाने—स्त्री स्वातन्त्र्य, ग्रामोद्धारादि कई प्रकार के लौकिक वाद अपनाये गये। भगवान् महावीर के वचनों का दुरुपयोग हुआ। प्रभु के नाम से गप्पें उड़ाई गई।

इस प्रकार के खोटे प्रचार से साधारण जनता भ्रम में पड़ जाती है। वह यह नहीं समझ सकती कि निर्ग्रंथ-प्रवचन और सग्रन्थ-प्रवचन में क्या अन्तर है। जो परीक्षक हैं, वे तो प्रवृत्ति-निवृति, सावद्य-निरवद्य और आरंभ-अनारंभ के भेद से सत्य और असत्य को समझ लेते हैं। उन पर ऐसे मिथ्या प्रचारकों का प्रभाव नहीं पड़ता। भ्रम में तो वे ही पड़ते हैं जो निर्ग्रंथ-प्रवचन का उद्देश्य नहीं समझते।

निर्ग्रंथ-प्रवचन में वही साहित्य आ सकता है, जो जिनागमों की मर्यादा का किञ्चित् भी उल्लंघन नहीं करता हो और सूत्र के आशय के अनुरूप ही भाव व्यक्त करता हो। वर्तमान में कई लेखक, जैन साहित्य के नाम से ऐसे भाव भी व्यक्त करते हैं कि जिनका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वरन् संसार से लगाव होता है। ऐसे लेखक निर्ग्रंथ-प्रवचन के अंग कहा कर भी उस अंग को काटने रूप शत्रुता का कार्य करते हैं।

ज्ञान के निमित्त—ऐसे पत्रादि पर लिखित आगमों या उनकी स्थापना की धूप-दीप से पूजा या वन्दना करना, प्रवचन भक्ति नहीं है। किन्तु निर्ग्रंथ-प्रवचन पर हार्दिक श्रद्धा, अटूट प्रेम रखना, स्वाध्याय करना, भव्यजनों के मन में निर्ग्रंथ-प्रवचन की प्रतिष्ठा करने को तत्पर रहना ही वास्तविक प्रवचन-भक्ति है।

निर्ग्रंथ-प्रवचन की भक्ति करना, निर्ग्रंथनाथ अरिहंत भगवन्त की भक्ति करने के समान है। निर्ग्रंथ-प्रवचन की

भक्ति करने के समान है। निर्ग्रंथ-प्रवचन की भक्ति वही करेगा, जिसकी उसमें रुचि होगी, अटूट श्रद्धा होगी। जिन-प्रवचनों में रुचि रखने वाली भव्यात्मा के विषय में श्री उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३६ में लिखा है कि—

"जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्तसंसारी ॥

जिन वचनों में अनुरक्त रहने वाली पवित्रात्मा, अनन्त संसार भ्रमण को रोक कर परिमित संसारी हो जाती है। यह बात तो साधारण है, किन्तु यदि किसी भव्यात्मा के भावों की तीव्रता हो—उत्कृष्ट भक्ति हो, तो वह तीर्थंकर नाम-कर्म का भी उपार्जन कर लेती है। **"णिग्गंथं पावयणं सच्चं"** यह तो सामान्य श्रद्धा हुई, किन्तु इससे भी आगे बढ़ कर जो भव्यात्मा **"णिग्गंथं पावयणं अट्ठे, अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे"**—इस प्रकार दृढ़तापूर्वक मानता है, श्रद्धान करता है, अनुरागपूर्वक स्वाध्याय करता हुआ और निर्ग्रंथ-प्रवचन की उत्कृष्टता के प्रति अत्यन्त आदर भाव रखता हुआ, भव्य जीवों में प्रचार करता है, वह स्वयं प्रवचनकार—जिनेश्वर बन जाता है।

गुरु भक्ति

निर्ग्रंथ-प्रवचन की शिक्षा देने वाले गुरु की भक्ति करना अरिहंत पद प्राप्ति का चौथा भेद है। संसार में आजीविका चलाने की शिक्षा देने और संसार व्यवहार को सिखाने वाले गुरु होते हैं। उनमें अक्षर, गणित, भाषा, कला, शिल्प आदि अनेक प्रकार से शिक्षा देने वाले गुरु की अपेक्षा, धर्म गुरु का पद सर्वोत्तम है। लौकिक गुरु की शिक्षा से आत्मोत्थान का खास संबंध नहीं है, किंतु लोकोत्तर गुरु की शिक्षा तो आत्म-कल्याण के उद्देश्य से ही होती है। सांसारिक शिक्षा में इहलौकिक—भौतिक सुख का लक्ष्य रहता है। इसका परिणाम आत्मा के लिए प्रायः दुःख-दायक होता है, किंतु निर्ग्रंथ-प्रवचन की शिक्षा का उद्देश्य तो आत्मानन्द की प्राप्ति है। जिसमें शाश्वत सुख रहा हुआ है।

निर्ग्रंथ गुरु का पद केवल मौखिक शिक्षा या उपदेश देने तक ही सीमित नहीं रहता, इसका संबंध मुख्यतया जीवन-शुद्धि से है। जिस उच्च आत्मा ने निर्ग्रंथ-प्रवचन को जीवन में उतारा है, जिनका चरित्र उज्ज्वल है, जो मुक्ति मार्ग के पथिक हैं, वे ही इस पद में आराधनीय होते हैं।

धर्म-गुरु वे ही हैं—जो इन्द्रियों को वश में रखते हैं।

नववाड़ से सुरक्षित ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। चार कषाय से मुक्त * हैं, पाँच महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन करते हैं। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का पालन करते हैं। जिनके चलने, बोलने, आवश्यक वस्तु को प्राप्त करने, वस्तु को उठाने-रखने और अनावश्यक एवं व्यर्थ की वस्तु को त्यागने की क्रिया निर्दोष हो, समिति युक्त हो। जिन्होंने मन, वचन और शरीर की बुरी—कर्म-बन्धजन्य प्रवृत्ति को त्याग दिया हो, ऐसे निर्ग्रंथ-प्रवचन के साकार स्वरूप गुरु ही लोकोत्तर गुरु हैं।

जिनकी वाणी से किसी भी प्रकार के आस्रव का समर्थन होता हो, स्थावरकाय के—एकेन्द्रीय जीवों को भी परिताप उत्पन्न होता हो, सग्रंथता को बल मिलता हो, परिग्रह का स्वतः या दूसरों द्वारा सेवन होता हो, यन्त्रवाद अपनाया जाता हो और संसारवाद का प्रचार एवं समर्थन होता हो, वे धर्म-गुरु नहीं, किन्तु कर्म-गुरु हैं।

जिनेश्वर भगवन्त के मोक्षमार्ग में, सत्रह प्रकार का संयम पालन करने वाले ही साधु माने जाते हैं। वे सतरह प्रकार ये हैं—

१–९ पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय—इन नौ प्रकार के जीवों की विराधना से विरत होना, १० अजीवकाय संयम (परिग्रह से विरत होना, बहुमूल्य वस्त्रादि नहीं लेना आदि) ११ प्रेक्षा संयम (प्रतिलेखना द्वारा संयम

* कषाय-मोहनीय के उदय को 'कषाय-प्रतिसंलीनता द्वारा निष्फल करते रहते हैं।

साधना) १२ उपेक्षा (गृहस्थ, पासत्था, शिथिलाचारी एवं मिथ्यात्वी आदि की उपेक्षा करना, संगति--परिचय आदि से वंचित रहना) १३ परिष्ठापना--मल-मूत्रादि को विवेकपूर्वक परठना, १४ प्रमार्जना, १५-१७ मन, वचन और काया के योगों की अशुभ प्रवृत्ति रोकना।

संयम के ये सत्तरह प्रकार हैं। इनमें से एक की भी कमी हो, तो वहाँ निर्ग्रंथ साधुता सुरक्षित नहीं रहती।

निर्ग्रंथ साधुओं को 'अनगार' कहते हैं। अनगार के २७ गुण इस प्रकार हैं--

१-५ पाँच महाव्रतों का पालन, ६-१० पांच इन्द्रियों का निग्रह, ११-१४ चार कषायों का विवेक, १५ भाव-सत्य १६ करण-सत्य (प्रतिलेखनादि क्रिया-शुद्धि) १७ योग-सत्य--मन वचन और काया का निर्दोष होना, १८ क्षमा, १९ वैराग्य, २०-२२ मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति, २३-२५ ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सम्पन्नता, २६ वेदना--कष्ट सहन और २७ मृत्यु के महान् दुःख को शान्ति एवं समभाव से सहन करना। इन गुणों के स्वामी ही अनगार होते हैं।

निर्ग्रंथ मुनियों का धर्म दस प्रकार का है--

१ क्षमा २ निर्लोभता ३ सरलता ४ निरभिमानता ५ तपस्या ६ संयम ७ सत्याचरण ८ निर्दोषता--शुद्धता ९ अकिंचनत्व (परिग्रह रहिता) और १० ब्रह्मचर्य।

इस प्रकार अनेक गुणों के धारक निर्ग्रंथ होते हैं। सभी निर्ग्रंथ वन्दनीय होते हैं। किन्तु गुरु पद में उपरोक्त गुणों के

अतिरिक्त अपने को धर्म का उपदेश दे कर मोक्ष-मार्ग में जोड़ने वाले, उपासक अथवा श्रमण-धर्म में दीक्षित करने वाले, ज्ञान-दान देने वाले और धर्म से डिगते हुए को स्थिर करने वाले विशेष रूप से गुरु होते हैं।

गुरु महाराज भी देव की तरह वन्दनीय, पूजनीय हैं। क्योंकि वे जिनेश्वर देव के प्रतिनिधि हैं। जिनेश्वर देव के उपदेश (निर्ग्रंथ-प्रवचन) का दान कर हमारा उपकार करते हैं। हमारे लिए जिनेश्वर भगवन्त प्रत्यक्ष नहीं है, परन्तु उनके प्रतिनिधि रूप गुरुदेव प्रत्यक्ष हैं। उनकी सेवा, भक्ति, बहुमान कर के, उनकी आज्ञा का पालन कर के एवं उनकी आराधना में सहायक हो कर, जीवन सफल करना चाहिए।

गुरु की पहिचान, केवल वेश देख कर ही नहीं, किन्तु गुणों को देख कर की जानी चाहिए। वेश तो प्राथमिक परिचय देता है। इस वेश में रह कर यदि कोई विपरीत आचरण करता हो, सावद्य प्रवृत्ति करता हो, मिथ्या प्रचार करता हो और संसार-मार्ग का पोषक हो, तो वह धर्म-गुरु नहीं, कर्म-गुरु है। ऐसे उन्मार्ग-गामी की संगति भी नहीं करनी चाहिए।

निर्ग्रंथ गुरु का योग, महान् पुण्य के उदय से मिलता है। सच्चे गुरु की सेवा, वन्दना, नमस्कार एवं बहुमान करने से आत्मा की शुद्ध पर्याय जाग्रत होती है और शुभ परिणामों की तीव्रतमता के चलते महान् शुभ पुण्य का उपार्जन हो कर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो जाता है। जिससे वह भव्यात्मा स्वतः जगद्गुरु--तीर्थाधिपति के पद को प्राप्त हो कर अनेक भव्यात्माओं की तारक बन जाती है।

स्थविर भक्ति

स्थविर का अर्थ 'वृद्ध' होता है। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं—१ वयःस्थविर (वयोवृद्ध) साठ वर्ष की अवस्था वाले साधु, २ सूत्र स्थविर (ज्ञान-वृद्ध) स्थानांग और समवायांग सूत्र के ज्ञाता और ३ प्रव्रज्या स्थविर (चारित्र-वृद्ध) बीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले साधु। इस प्रकार के स्थविर साधुओं की सेवा-भक्ति करना, अरिहन्त पद प्राप्ति का पांचवां उपाय है।

स्थविर मुनिवरों की आहार पानी और शय्यादि से सेवा करना। उनके अनुकूल रह कर संयम पालन में सहायक बनने से कर्मों की विशेष निर्जरा होती है और अपनी ज्ञान तथा चारित्र पर्याय निर्मल होती है। स्थविरों की सेवा करते हुए, शुभ भावों की उत्कृष्टता के चलते तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध हो सकता है।

बहुश्रुत भक्ति

बहुश्रुत—जिनमें श्रुतज्ञान की विशेषता हो, वे 'बहुश्रुत' कहलाते हैं। बहुश्रुत भी तीन प्रकार के होते हैं। जैसे—१ सूत्र बहुश्रुत २ अर्थ बहुश्रुत और ३ तदुभय बहुश्रुत। सूत्रों का विशाल ज्ञान रखने वाले 'सूत्र-बहुश्रुत' होते हैं। सूत्रों के

अर्थ की विशिष्ट जानकारी वाले 'अर्थ बहुश्रुत' होते हैं और सूत्र तथा अर्थ दोनों के विशेषज्ञ, 'तदुभय बहुश्रुत' होते हैं। सूत्र बहुश्रुत की अपेक्षा अर्थ बहुश्रुत (गीतार्थ) प्रधान होते हैं और अर्थ बहुश्रुत की अपेक्षा तदुभय बहुश्रुत प्रधान होते हैं।

बहुश्रुत मुनिवरों की भक्ति करने वाले के ज्ञानावरणीय कर्म की विशेष निर्जरा होती है और ज्ञानवृद्धि में अनुकूलता होती है। श्रुतज्ञान की वृद्धि से आत्मा केवलज्ञान के निकट पहुँचती है।

तपस्वियों की भक्ति

खान-पानादि और इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की इच्छा का निरुन्धन कर के आत्मा को विशेष निर्जरा में जोड़ना 'तप' कहलाता है। तप के अनशनादि बारह भेद हैं। जो सम्यग् तप द्वारा अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनाते रहते हैं, वे 'तपस्वी' कहलाते हैं। ऐसे तपस्वियों की सेवा करने से भी आत्मा में अरिहंत पद की योग्यता बढ़ती है।

गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी, ये सभी मुनिराज, नमस्कार महामन्त्र के तीसरे पद से लगा कर पाँचवें पद में रहे हुए हैं। ये त्यागी, संयमी, चारित्रवान् और मोक्ष के सर्वसाधक हैं। संसार के दुःखों से मुक्त हो कर अनन्त आत्मिक सुख को प्राप्त करने वाले हैं। इन सब की वत्सलता—भक्ति-पूर्वक सेवा करना, अनुकूल एवं पथ्यकर आहारादि से साता

पहुँचाना और संयम-यात्रा में सहायक होना, अपनी आत्मा के लिए भी हितकर है। यह भी एक साधना है। इस साधना के द्वारा अपनी आत्मा के भगवद्-स्वरूप का प्रकटीकरण होता है और विकास होते-होते अरिहंत पद की योग्यता आ जाती है।

सतत ज्ञान आराधना

सम्यग्ज्ञान में निरन्तर उपयोग रखना भी आत्मा की केवलज्ञान-पर्याय को प्रकट करना है। ज्ञान में सतत उपयोग रखने से ज्ञानावरणीय कर्म की विशेष रूप से निर्जरा होती है। ज्ञानोपयोगी आत्मा की परिणति भी शुभ ही होती है। इससे वह मोहनीय-कर्म को भी कमजोर कर सकता है। जब तक आत्मा ज्ञानोपयोग में रहती है, तब तक वह अशुभ कर्मों से बची रहती है। जो सम्यग् ज्ञान के आलम्बन से स्वाध्याय—वाचना, पृच्छा, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा से, विभिन्न प्रकार से ज्ञानोपयोग में रहते हैं, उनकी आत्मा क्रमशः निर्मल होती जाती है और एक दिन अरिहन्त पद प्राप्त कर लेती है।

आज ज्ञानाराधना के विषय में भी बड़ा भ्रम फैला हुआ है। लोग मिथ्या एवं संसारलक्षी ज्ञान को महत्व देते हैं। किन्तु ऐसा ज्ञान तो आत्मा को कर्म-बन्धनों में जकड़ने वाला है। भौतिक विज्ञान की साधना से आत्मा भारी हो कर दुःख-परम्परा बढ़ती है और आत्मिक ज्ञान का उपयोग रखते रहने से आत्मा विशुद्ध होती हुई सर्वज्ञ बन जाती है।

दर्शन आराधना

सम्यग्दर्शन की निर्दोष रीति से आराधना करने से आत्मा की दर्शन-पर्याय निर्मल होती है।

देव, गुरु और धर्म तथा जीवादि तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान, सम्यग् दर्शन है और कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और कुतत्त्वों की श्रद्धा अथवा सम्यग्दर्शन का अभाव, मिथ्यादर्शन है। यह संसार को बढ़ाने वाला और दुःख-परम्परा का सर्जक है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप उन विश्वोत्तम भगवन्तों का बताया हुआ है, जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो चुके हैं। जिन्होंने तत्त्व-अतत्त्व को स्वयं देख लिया है, उन अरिहंत भगवंतों के बताये हुए तत्त्वों पर विश्वास करना सम्यग्दर्शन है। जिन लोगों की आत्मा, ज्ञानावरणियादि घातिकर्मों के आवरण से ढकी हुई है, उनका स्वतन्त्र निर्णय निर्दोष नहीं होता। जिन व्यक्तियों में, संसार संबन्धी विषयों में काफी योग्यता होती है, वे भी आत्मिक विषयों में अनभिज्ञ होते हैं। यह विषय ही ऐसा है कि जिसका लौकिक ज्ञान से खास सम्बन्ध नहीं है। इसलिए लौकिक विद्वान, सम्यग्दर्शन के विषय में सही निर्णय नहीं ले सकते। अतएव वीतराग सर्वज्ञ भगवन्तों द्वारा उपदिष्ट तत्त्व के प्रति दृढ़ एवं निर्दोष श्रद्धान होना और दर्शनोपयोग में वृद्धि होना ही उत्थान का मूल है। यह वह भूमिका है कि जिस पर रह कर जीव, जिनेन्द्र होने रूप उत्कृष्ट भवन बना सकता है।

'जिन नाम' कर्म के उपार्जन की योग्यता चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होती है। इसका तात्पर्य यह है कि चारित्र के अभाव में भी एक अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट आराधना से, तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लेता है और कालान्तर में विरत हो कर चारित्र के बल से तीर्थंकर भगवंत बन सकता है। अतएव सम्यग्दर्शन को दूषित एवं नष्ट करने वाले कारणों से बचाते रह कर जिनेश्वर भगवन्त द्वारा कहे हुए और आगमों में गुंथे हुए तत्त्वों तथा धर्म के स्वरूप पर पूर्ण श्रद्धा रखना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि धर्म, वीतराग सर्वज्ञ भगवन्तों की आज्ञा में है और उसका लक्षण सम्यग्-ज्ञानादि रूप है। मोक्ष की साधना सम्यक्त्व युक्त संवर निर्जरा में है। यदि कहीं मति कुंठित हो रही हो, तो--"**तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं,**" कह कर दूषण से बचना चाहिये। ऐसा कर के हम अपने सम्यग्दर्शन को निर्दोष रख सकते हैं।

विनय साधना

जैन धर्म, 'विनय-मूल' धर्म कहलाता है। विनय का जग प्रसिद्ध अर्थ—नम्रता है, किन्तु यहां विनय उसे कहा है कि जिसके द्वारा आत्मा पर लगे हुए कर्म-रूप मल को हटाया जा सके। इसके अन्तर्गत संवर और निर्जरा ये दोनों तत्त्व आ गये। विनय-मूल धर्म का प्रारम्भ सम्यक्त्व प्राप्ति के साथ ही

होता है। इसके सात भेद हैं। जैसे—

१ ज्ञान-विनय २ दर्शन-विनय ३ चारित्र-विनय ४ मन-विनय ५ वचन-विनय ६ काय-विनय और ७ लोकोपचार विनय।

१ ज्ञान-विनय—पाँच प्रकार के ज्ञान और ज्ञानी के प्रति श्रद्धा—बहुमान रखना और ज्ञान की निरतिचार आराधना करना।

२ दर्शन-विनय—यह दो प्रकार से होता है—१ सुश्रूषा और २ अनाशातना। सुश्रूषा—सेवा करना, गुणाधिकों को आदर, सम्मान व आसन देना, वन्दन-नमस्कार करना आदि।

अनाशातना— १ अरिहंत, २ अरिहंत प्ररूपित धर्म ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ स्थविर ६ कुल ७ गण ८ संघ ९ क्रियावंत १० सांभोगिक ११–१५ मतिज्ञानी से लगा कर केवलज्ञानी। इन पन्द्रह की आशातना नहीं करना, भक्ति करना और बहुमान करना।

उपरोक्त भेदों में से प्रथम भेद में देव, तीसरे आदि में निर्ग्रंथ गुरु और साधर्मी और दूसरे भेद में केवली-प्ररूपित धर्म की भक्ति, बहुमान करना और आशातना नहीं करना, 'दर्शन-विनय' माना गया है।

३ चारित्र-विनय—पाँच प्रकार के चारित्र में श्रद्धा रखना, यथा-शक्ति पालन करना, उच्च चारित्र पालने की भावना रखना, चारित्र-धर्म का प्रचार करना तथा चारित्रवंतों

का विनय करना।

ज्ञातासूत्र में श्री थावच्चापुत्र अनगार ने श्रावक के व्रतों और साधु के महाव्रतों को विनयमूल धर्म—देश-चारित्र धर्म और सर्व-चारित्र धर्म बताया है। तात्पर्य यह कि सभी प्रकार का चारित्र पालन, प्ररूपण और श्रद्धादि—चारित्र विनय है।

४ मन-विनय—यह अप्रशस्त और प्रशस्त यों दो प्रकार का है।

अप्रशस्त—सावद्य, कायिकी आदि पापकारी क्रिया युक्त और कर्कश, कटु, कठोर आदि बारह प्रकार के पापकारी विचारों का त्याग करना।

प्रशस्त—अप्रशस्त से उलटे विचारों को स्थान देना।

५ वचन-विनय—अप्रशस्त वचनों का उच्चारण नहीं करना और प्रशस्त वचन व्यवहार करना।

६ काय-विनय—अप्रशस्त काय-विनय—असावधानी से चलना आदि और प्रशस्त काय-विनय।

७ लोकोपचार-विनय—१ गुरु और रत्नाधिक साधुओं के समीप रह कर ज्ञानाभ्यास करना २ बड़ों की इच्छानुसार चलना ३ ज्ञानादि कार्य के लिए विनय करना ४ उपकार के बदले आहारादि से सेवा करना और इस इच्छा से कि—मेरी सेवा से वे प्रसन्न होंगे, तो मुझे विशेष ज्ञान देंगे—सेवा करना ५ वृद्ध और रोगी साधु को औषधी तथा पथ्य ला कर देना ६ देश और काल को देख कर चलना और

७ सभी कार्यों में अविरोधी रहना।

इस लोकोपचार विनय का सम्बन्ध भी गुर्वादि श्रेष्ठ श्रमणों से है, असंयत-अविरत जनता से नहीं।

उत्कृष्ट प्रकार से विनय साधना करने पर तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध होता है।

आवश्यक साधना

अरिहंत-पद प्राप्ति का ग्यारहवां उपाय 'आवश्यक साधना' है। चाहे श्रावक हो या साधु, जो पूर्ण रूप से कर्त्तव्य पालक होगा, उसी की आराधना सफल होगी। वह सतत प्रगति करता जायगा और एक दिन ऐसा भी आयगा कि--स्वयं अपने ध्येय को प्राप्त कर के आराधक से आराध्य--अरिहंत बन जायगा।

आवश्यक साधना के छः प्रकार जिनागम में कहे हैं। जैसे--१ सामायिक २ चतुर्विंशतिस्तव ३ गुरु-वन्दन ४ प्रतिक्रमण ५ कायोत्सर्ग और ६ प्रत्याख्यान।

१ आवश्यक का प्रथम भेद सामायिक है। समस्त सावद्य योगों का त्याग कर, पापमय प्रवृत्ति की रोक करना। मन, वचन और काया के योग की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग कर के ज्ञानादि के अवलम्बन से आत्म-लक्षी निर्दोष प्रवृत्ति करना। इससे संवर तत्त्व की आराधना होती है। प्रथम आवश्यक में पाप प्रवृत्ति रुक जाती है। श्रावक इस आवश्यक का प्राय:

देश-साधक होता है और श्रमण सर्वसाधक होता है। श्रमण के तो जीवनभर की सामायिक होती है, फिर भी इस आवश्यक में वह अपने व्रत की शुद्धि करता है।

इस आवश्यक में--१ श्रुत-सामायिक २ सम्यक्त्व सामायिक ३ देश-विरति, ये तीन सामायिक तो श्रावक के होती ही है और सर्व-विरत सामायिक साधु के होती है। आवश्यक साधना के द्वारा वह तीनों या चारों प्रकार की सामायिक की शुद्धि करता है। सावद्य-योग की विरति, आवश्यक साधना का प्रथम भेद अथवा भूमिका है।

२ चतुर्विंशतिस्तव--सावद्य योग से विरत होने के बाद देव-स्तुति की जाती है। चौबीस जिनेश्वरों के गुणों का स्मरण करते हुए स्तवन करना, भक्ति और बहुमान बढ़ाना और इस प्रकार अपने दर्शन गुण की विशुद्धता करना। दर्शन गुण की पूर्ण विशुद्धि होने पर क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, जो मोक्ष की मूल-भूमिका है।

३ वन्दना--इस आवश्यक का दूसरा नाम--गुणपूजा--गुणियों की वन्दना--रत्नाधिकों की भक्ति है। गुणवन्त गुरु महाराज की वन्दना करने से गुणानुराग बढ़ता है और उन गुणों की प्राप्ति सरल हो जाती है।

४ प्रतिक्रमण--ज्ञान, दर्शन और चारित्र में लगे हुए अतिक्रमादि दोषों की शुद्धि करना--प्रतिक्रमण है। दोष के कारण जो स्खलना हो जाती है, उस स्खलना से पुनः लौट कर शुद्ध दशा में आना--प्रतिक्रमण आवश्यक है।

५ कायुत्सर्ग—प्रतिक्रमण से शुद्धि करने पर भी जो दोष शेष रह जाते हैं अर्थात् जो प्रतिक्रमण से भी नष्ट होने योग्य नहीं होते, उनकी शुद्धि कायुत्सर्ग से होती है। व्रण (फोड़े) में से मवाद निकाल देने पर भी उसमें जो क्षति शेष रह जाती है, वह मरहम-पट्टी से दूर हो कर ठीक होती है। उसी प्रकार प्रतिक्रमण से दोषों को हटा देने के बाद भी जो दोष शेष रह जाते हैं, वे कायुत्सर्ग से दूर होते हैं।

कायुत्सर्ग = आत्म शुद्धचर्थ देह के मोह को त्यागना—देह-दृष्टि छोड़ कर आत्माभिमुख होना।

६ प्रत्याख्यान—त्याग करना, इच्छा निरोध रूप तप करना, इससे नवीन गुणों की वृद्धि होती है। आश्रवद्वारों का विशेष रूप से निरुंधन होता है और पूर्व-कर्मों की निर्जरा होती है। इससे आत्मशांति में भी विशेष वृद्धि होती है।

उपरोक्त छह प्रकार का आवश्यक भावपूर्वक उभय काल—प्रातः-सायंकाल अवश्य करना चाहिये। अवश्य करने योग्य होने के कारण ही इसका 'आवश्यक' नाम दिया गया है।

यों आवश्यक उभयकाल करना चाहिये, किन्तु ये छहों आवश्यक भिन्न-भिन्न रूप में भिन्न-भिन्न समयों में भी किये जाते हैं। जैसे —

सामायिक किसी भी समय की जा सकती है। देव और गुरुवंदन रूप दूसरा और तीसरा आवश्यक भिन्न समय में भी होता है। व्रत की शुद्धि, दोष लगने के साथ भी होती है। इर्यापथिकी प्रतिक्रमण तो विभिन्न क्रियाओं के पश्चात् होता

ही है। कायुत्सर्ग भी ध्यान के समान किसी भी समय हो सकता है और प्रत्याख्यान भी। इस प्रकार छहों आवश्यक यथा-योग्य रूप से अन्य समयों में भी किए जाते हैं, फिर भी उभयकाल आवश्यक करना (छहों आवश्यक को नियमित रूप से करना) इस भेद का उद्देश्य है। यह विशेष शुद्धि का कार्य है। सतत् शुद्धि करते रहने से जीव, उत्थान की ओर बढ़ता ही जाता है।

आवश्यक क्रियाएँ और भी हैं। जैसे—प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करना, दूसरे में ध्यान करना, नवीन ज्ञानाभ्यास करना, प्रतिलेखना, प्रमार्जना, आवश्यकी, नैषेधिकी आदि ये क्रियाएँ भी सदैव अवश्य करने योग्य हैं।

तात्पर्य यह कि जो क्रियाएँ सदैव अवश्य करने योग्य हैं, उन्हें रुचिपूर्वक (भाव-सहित) अवश्य करते रहने से साधना सफल होती है और यह सफलता ही तो अरिहंत-पद प्राप्ति है।

शुद्ध चारित्र पालन

आवश्यक क्रिया यथार्थ रूप में करने वाला अपने चारित्र को विशुद्ध रखने में प्रयत्नशील होता है। इसलिए बारहवाँ उपाय अतिचार—दोष रहित शील—उत्तम आचार का पालन करना है। शुद्ध चारित्र का परिपालन, अरिहंत-पद प्राप्ति में कारण होता है।

श्रावक के व्रतों, साधु के महाव्रतों, समिति, गुप्ति और

समाचारी का शुद्ध रूप में पालन करना, उसमें अतिचार (दोष) नहीं लगने देना ही उन्नति के शिखर पर पहुँचने में सहायक होता है। शील--आचार में दोष रूपी विषैलापन रह जाय, तो वह त्रुटिपूर्ण साधना ऊर्ध्वमुख नहीं होने देती। वीतराग चारित्र तभी प्राप्त होता है, जब कि सराग-संयम शुद्ध हो कर शुद्धतर और विशुद्धतम की ओर बढ़े। श्रावक भी अपने श्रावक व्रतों को विशुद्ध रीति से पालता हुआ तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर सकता है। क्योंकि तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध चौथे गुणस्थान से ही प्रारंभ हो जाता है।

यद्यपि दर्शन की उत्कृष्टता मात्र से भी तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध होता है, तथापि उस फल की प्राप्ति में विशुद्ध चारित्र का होना अनिवार्य है। जिस आत्मा के ज्ञान-दर्शन की उत्कृष्ट आराधना से 'जिन' नाम-कर्म का बन्ध हुआ, उसे भी चारित्र तो पालना ही होता है, तभी वह वीतराग बन सकता है। दर्शन की उत्कृष्ट आराधना में भी वैसा बन्ध हो जाता है और वैसा ही बन्ध चारित्र की विशुद्ध आराधना से भी होता है।

जिस चारित्र में लोक-दिखाउ मनोवृत्ति नहीं हो, मान-प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं हो, भौतिक अनुकूलताएँ प्राप्त करने की कामना नहीं हो और केवल आत्म-शुद्धि के लक्ष से चारित्र पालन किया हो, तो भावों की प्रबलता में कर्मों की निर्जरा के साथ जो उत्तम प्रकृत्ति का बन्ध हो, वह अरिहंत पद प्राप्ति का कारण बन सकता है। अतएव चारित्र का निर्दोष रूप से

पालन कर के आत्मोत्थान साधना, प्रत्येक धर्म-प्रिय का कर्त्तव्य है।

शुभध्यान

निरतिचार संयम के बाद शुभ भावों में तल्लीन रहना तेरहवाँ उपाय है। आर्त्त और रौद्र ध्यान तो वर्जित है ही। धर्मध्यान का पुनः-पुनः आश्रय लेने और उसमें तल्लीनता बढ़ाने से भावों की उत्कृष्टता बने, तो 'जिन' नाम-कर्म का बन्ध हो सकता है।

ध्यान रूपी अग्नि में कर्मरूपी कचरा भस्म हो जाता है। यदि आर्त्त-रौद्र रूपी अशुभ ध्यान हो, तो शुभ कर्मों को जला कर अशुभ कर्म रूपी कोयलों का संग्रह होता है और शुभ ध्यान हो, तो अशुभ कर्मों को नष्ट कर शुभ कर्म रूपी स्वर्ण का संचय होता है।

अग्नि जलाती भी है और बनाती भी है। ईंधन जलाती है, तो भोजन पकाती है। इसी प्रकार अशुभ ध्यानरूपी अग्नि, आत्मा के शुभविपाक वाले कर्मों को ईंधन बना लेती है और अशुभ विपाक वाले कर्मों को भोजन के रूप में, अशुभ विपाक में परिणत होने के लिए आत्मा के साथ जोड़ देती है। शुभ ध्यान इससे उल्टा होता है। वह कल्मष को नष्ट करता है और शुभ विपाक जनक कर्मों को तय्यार करता है।

धर्मध्यान, निर्जरा प्रधान है, फिर भी इसमें शुभ बन्ध भी

विशेष रूप से होता है और इसीके चलते मनुष्य, एक वैमानिक देव के शुभतर आयु का बन्ध करता है और तीर्थंकर नाम-कर्म की महान् प्रकृति का भी। शुक्ल ध्यान में निर्जरा की मात्रा अत्यन्त हो जाती है और बन्ध नहिंवत्। शुक्ल-ध्यान के चलते न तो किसी गति का बन्ध होता है और न आयुष्य का। शुक्ल-ध्यान की पूर्वावस्था में ज्ञानावरणीयादि का बन्ध होता है, फिर भी वह स्वल्प, निर्माल्य और शक्तिहीन। फिर तो एक सातावेदनीय का ही नाम-मात्र का बन्ध हो कर तुरन्त क्षय हो जाता है। इस ध्यान की पराकाष्ठा ही निष्कर्मा होना है। तात्पर्य यह कि मुक्तात्माओं का आत्मा के स्वरूप का अथवा जिस विचारणा में समस्त जीवों के दुःख-मुक्त होने की भावना हो, जिस भावना में सभी जीवों को मोक्षमार्ग में जोड़ने के मनोरथ हों, वे सभी जिन नाम-कर्म का संग्रह करने में कारणभूत होते हैं।

हिंसादि पापाचार को रोकने, अनुकम्पा एवं दयाभाव में रमने और सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र का प्रचार करने की उत्कृष्ट भावना भी शुभ ध्यान के अन्तर्गत है। इससे भी पुण्य-प्रकृति का बन्ध होता है।

तपश्चरण

बाह्य और आभ्यन्तर तपश्चर्या से भी अरिहन्त पद की आराधना होती है। यद्यपि प्रशस्त तप, निष्काम भाव से,

केवल निर्जरा (आत्मशुद्धि) के लिए ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार के तप में किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं रहती, तथापि निर्जरा के साथ शुभ बन्ध भी होता ही रहता है, क्योंकि आत्मा में रहे हुए प्रशस्त राग और सकर्मीपन आदि के कारण बन्ध भी होता ही है और वह बन्ध अधिकतर प्रशस्त प्रकृतियों का होता है।

वर्तमान में कई लोग, दूसरों की भूलों को सुधारने अथवा दूसरों को सन्मार्ग पर लाने के लिए तप करते हैं। कई दूसरों से अपनी इच्छानुसार कार्य करवाने के लिए तप (भूख-हड़ताल या अनशनादि) करते हैं, किन्तु इस प्रकार किया हुआ तप निर्जरा अथवा तीर्थंकर पद का कारण नहीं बनता। भौतिक कामना युक्त तप से इच्छित ऋद्धि आदि प्राप्त की जाती है और निष्काम सम्यक् तप से अरिहंत-सिद्ध पद की प्राप्ति होती है।

सुपात्रदान

अरिहंत पद प्राप्ति का पन्द्रहवाँ उपाय निर्ग्रंथ साधु-साध्वियों को भक्तिपूर्वक सुपात्र दान देना है। मोक्ष-साधक अनगार भगवन्तों को परम उल्लासपूर्वक प्रतिलाभने वाला, निर्ग्रंथ अवस्था का पूर्ण रूप से समर्थक और इच्छुक है। साधुता के प्रति उसकी पूर्ण प्रीति है। मोक्ष साधक निर्ग्रंथों को प्रतिलाभने वाला सुश्रावक, निर्ग्रंथों में समाधि भाव उत्पन्न

करने वाला और संयम में सहायक है। इसके फलस्वरूप वह परम्परा से मुक्ति लाभ करता है (भगवती ७–१)।

सुपात्रदान––धर्मदान है। धर्मदान में पात्र (ग्राहक अर्थात् ग्रहण करने वाले) शुद्ध निर्ग्रंथ हो, यथार्थ संयमी हो। देने वाला उत्साहपूर्वक, आदर-सत्कार सहित और परम हर्षित होता हुआ दान देता हो और दान में दी जाने वाली वस्तु भी शुद्ध–निर्दोष–संयमी जीवन के अनुकूल एवं सहायक हो। इस प्रकार द्रव्य, दायक और ग्राहक––ये तीनों शुद्ध हों और भावों में उत्कृष्टता आ जाय, तो संसार परिमित हो जाता है और जिन नाम-कर्म का बन्ध भी हो सकता है। भगवान् महावीर जैसे उत्तमोत्तम महा-श्रमण को, छद्मस्थ अवस्था में प्रतिलाभने वाले 'विजय, आनन्द और सुनन्द गाथापति तथा बहुल ब्राह्मण ने संसार-परिमित कर लिया था। उनके यहाँ दिव्य वृष्टि हुई थी।' रेवति गाथापत्नी ने भी सुपात्र दान का ऐसा फल प्राप्त किया था (भगवती १५)। सुपात्र दान सभी दानों में श्रेष्ठ दान है। सुपात्र दान, उत्कृष्ट भावपूर्वक वही दे सकता है कि जिसकी आत्मा, उत्थान होने योग्य बन चुकी हो। जिसकी आत्मा में ऐसी योग्यता नहीं हो, वह सुपात्र (संयमी निर्ग्रंथ का) और उनके योग्य वस्तु का योग पा कर भी भावों की मलिनता से उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। विपरीत भावों से तो वह पाप का उपार्जन भी कर लेता है।

वैयावृत्य

गुणाधिक संयमी, समान गुण वाले और साधर्मी की विशुद्ध भाव से उल्लासपूर्वक वैयावृत्य करने से आत्मा के अशुभ--पाप-कर्मों की बहुत बड़ी निर्जरा होती है और महान् शुभ कर्मों का बन्ध होता है।

सेवा किसी की भी की जाय। दुःखी दर्दी और अभाव-ग्रस्त जीवों के जीवन तथा शांति के लिए, आवश्यक निर्दोष साधनों से सेवा करना भी लाभ का कारण है। इससे पुण्य-प्रकृतियों का बन्ध होता है, किन्तु आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, साधर्मी, कुल, गण और संघ की भावपूर्वक भक्ति करने से वह सेवा सकाम-निर्जरा का कारण हो जाती है। संयमी, संवर और निर्जरा की साधना कर के मोक्ष साधने वाले साधकों की सेवा करना विशिष्ट लाभ का कारण है। इससे धर्म एवं मोक्ष के प्रति रुचि और संसार के प्रति अरुचि बढ़ती है। वैयावृत्य करने वाला, उन संयमी साधकों के प्रति भक्तिभाव रखता है, जो सहमार्गी साथी है, जो संसार रूपी भयानक बीहड़ से निकल कर मोक्षपुरी रूपी परम रमणीय स्थान को प्राप्त करने की ओर बढ़े चलने वाला साथ है।

संयमियों की यथोचित सेवा ही वास्तविक वैयावृत्य है और निर्जरा-प्रधान है। संयम-रहित जीवों की सेवा, अनुकम्पा बुद्धि से या कर्त्तव्य पालन करने की भावना से हो, तो वह

पुण्य-बन्ध का कारण हो सकती है, फिर भले ही सेवा करने वाला सम्यग्दृष्टि हो या नहीं हो।

वैयावृत्य में——आहार-पानी और वस्त्रादि आवश्यक वस्तु ला कर देना, आसन देना, उपकरण की प्रतिलेखना कर देना, पाँव पूंजना, औषधी देना, मार्ग में सहायक होना, दुष्ट जीवों से रक्षा करना, सहारा देना और मलमूत्रादि परठ देना। इस प्रकार यथोचित वैयावृत्य करने से और भावों की उत्कृष्टता से, अरिहंत-पद के योग्य उत्कृष्ट शुभ-कर्म का बन्ध हो सकता है।

वैयावृत्य वह तप है जिसमें साधक को अपनी सुख-सुविधा को त्याग कर, वैयावृत्य के योग्य आत्मा की सुख-सुविधा का ध्यान रखना पड़ता है। जिसे साधारण जन सहन नहीं कर सके, वैसी कठिन और दुःसह्य परिस्थिति को सहन कर के रोगी आदि की सेवा करनी पड़ती है। इस प्रकार कठिन परिस्थिति के चलते भी जो भावपूर्वक वैयावृत्य करते हैं, वे अशुभ कर्म के कठिन और गाढ़ थरों को तोड़ते हुए अपनी आत्मा को शक्तिमान बना लेते हैं और इस प्रकार वह शक्तिमान आत्मा, जिनेश्वर-पद को प्राप्त कर लेती है।

समाधि भाव

समाधि भाव——आकुलता से रहित, मन की एकाग्रता से अध्यवसायों की पवित्रता होती है। मन को पौद्गलिक अथवा

पर के निमित्त से हटा कर धर्म चिन्तन में लगाने से समाधि-भाव (शान्ति) प्राप्त होता है। समाधिभाव का अभ्यास बढ़ने से आत्मा की स्थिरता भी बढ़ती है। यह स्थिरता धर्म-ध्यान के अवलम्बन से आत्मा को इतनी बलवान बना देती है कि जिससे कई चरम शरीरी जीव, निर्जरा के अति प्रबल वेग के चलते क्षपक-श्रेणी का आरोहण करते हुए शुक्ल-ध्यानी बन कर अरिहंत दशा प्राप्त कर लेते हैं और समस्त दुःखों का अंत कर के सिद्ध हो जाते हैं, किंतु जिन आत्माओं में निर्जरा के साथ शुभबन्ध उत्कृष्ट रूप से हो, वे तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर के अरिहंत-पद को प्राप्त कर लेती है।

स्वयं समाधिभाव में रहे और गुर्वादि के हृदय में समाधि भाव जाग्रत करे, तो उस स्थान का वातावरण भी शान्त, सुखद और प्रेरक होता है।

समाधि प्राप्त करने के पूर्व असमाधि के कारणों को हटाना उचित है। आगमों में असमाधि के २० कारण इस प्रकार बताये हैं—

१ शीघ्रता से चलना, ऊटपटांग चलना, इससे जीव-हिंसा और ठोकर लगने या गिरने से असमाधि उत्पन्न होती है। २ प्रमार्जन नहीं करना, ३ बेपरवाही से बेगार की तरह प्रमार्जन करना, ४ स्थान, बिछौने, पाट आदि परिमाण से अधिक रखना ५ गुणाधिकों का अपमान करना ६ दीक्षादि से बड़े साधुओं स्थविरों की अवहेलना, निन्दा और विरुद्ध व्यवहार करना ७ एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा करना या आधाकर्मी

आहारादि ग्रहण कर हिंसा करवाना--भूतोपघातक ८ बात-बात में क्रोध करना ९ अधिक क्रोध करना--क्रोध का उपशमन नहीं करना १० दूसरों की अनुपस्थिति में उनकी निन्दा करना ११ जिस विषय में निश्चय नहीं हो गया हो, ऐसे विषय में निश्चयकारी भाषा बोलना १२ क्लेश के नये कारण उत्पन्न करना १३ पुराने क्लेश को क्षमा कर देने के बाद भी पुनः भड़काना १४ अकाल में स्वाध्याय करना १५ सचित्त रज से भरे हुए हाथ-पाँव से भिक्षा लेना १६ प्रहर रात जाने के बाद जोर से बोलना १७ भेद अथवा फूट डालना १८ क्लेश उत्पन्न करना १९ दिनभर खाते रहना और २० एषणा समिति का यथावत् पालन नहीं करना।

इस प्रकार की परिणति से खुद के चित्त में अशान्ति होती है और अपने सम्पर्क में आने वालों की आत्मा में भी असमाधि उत्पन्न होने का कारण होता है तथा जीवों की हिंसा भी होती है। इस प्रकार स्व-पर असमाधि के कारणों से वंचित रह कर समाधि-भाव को बढ़ाने वाले, धर्म-ध्यान में सहायक ऐसे तत्त्व-चिंतन, आत्म-अनात्म दशा की विचारणादि शुभ विषयों पर अनुप्रेक्षा (मनन) करते रहने से आत्मा का उत्थान होता है। यदि धर्म-चिन्तन की धारा वेगवती हुई और उच्च स्थिति पर पहुँची, तो तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध भी हो सकता है।

नवीन ज्ञान का अभ्यास करना

तीर्थंकर-पद प्राप्ति का अठारहवाँ उपाय—अप्राप्त ज्ञान को प्राप्त करने में निरन्तर प्रयत्नशील रहना है। ज्ञान ऐसा सबल अवलम्बन है कि जिसके आश्रय से भव्यात्मा, ज्ञान के आवरण को नष्ट करता हुआ विशेष-विशेष ज्ञानी बनता जात है। वह श्रुतकेवली और अन्त में केवल ज्ञानी—सर्वज्ञ बन जाता है।

जब तक आत्मा ज्ञानाभ्यास में लगी रहती है, तब तक उसकी आत्म-परिणति भी शुभ ही रहती है। वह शुभ से शुभतर और शुभतम की ओर अग्रसर रहती है। प्राप्त ज्ञान की पुनरावृत्ति से सीखा हुआ ज्ञान स्थायी एवं हृदयंगम होता है, किन्तु नवीन ज्ञानाभ्यास से ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। ज्ञान भण्डार में बहुमूल्य रत्नों का संचय होता है। वह ज्ञान, स्थिरता एवं एकाग्रता में बड़ा सहायक होता है। किसी भी विषय पर अनुप्रेक्षा करते हुए चिन्तन-मनन करते हुए आत्मा, विषय-कषाय की अशुभ परिणति से हट कर, आत्म-शुद्धि की ओर अग्रसर होती है। यदि सतत अभ्यास होता रहे और एकाग्रता बढ़ती रहे, तो अशुभ की निर्जरा और परम-उत्कृष्ट तीर्थंकर नाम-कर्म की पुण्य-प्रकृति का बन्ध भी हो सकता है। जिसके निर्जरा की मात्रा बहुत अधिक हो, वह धर्म-ध्यान से आगे बढ़ कर, शुक्ल-ध्यान में चला जाता है और वीतराग सर्वज्ञ हो कर उसी भव में मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

पहले के सीखे हुए ज्ञान को बार-बार परावर्त्तन करने में उपयोग दूसरी ओर बहुत जाता है, किन्तु नवीन ज्ञान का अभ्यास करने में उपयोग स्थिर रहना सरल होता है। किसी भी नई वस्तु के पढ़ने-सीखने में मन सरलता से लग सकता है। पढ़े और सीखे हुए विषय की ही पुनरावृत्ति मात्र करते रहने से एकाग्रता का आना उतना सरल नहीं होता। इसलिए नवीन ज्ञान का अभ्यास करते रहना, आत्मा के लिए अतीव हितकर है।

जैनदर्शन ने ज्ञान उसी को माना है, जो आत्मोत्थान में सहायक हो, जिससे हेय, ज्ञेय और उपादेय की सच्ची जानकारी हो, जो पौद्गलिक बन्धनों को छुड़ा कर सर्वतन्त्र स्वतंत्र बनने का मार्ग बताता हो और विषय-कषाय से हटा कर वीतरागता की ओर बढ़ने का दिशा-सूचन करता हो। जिस शिक्षा से आत्मा के बन्धन बढ़े, जिससे विषय-कषाय में वृद्धि हो, त्याग-भावना घट कर, भोग-भावना बढ़े और चतुर्गति रूप संसार के चक्कर वृद्धिगत हो, वह ज्ञान नहीं, अज्ञान—मिथ्याज्ञान माना है।

पाँच प्रकार के ज्ञान में पठन और श्रवण से होने वाला ज्ञान, 'श्रुतज्ञान' कहाता है। अभी आचारांगादि जितने सूत्र और तदनुकूल—अविपरीत जितना भी (सम्यक्) साहित्य है, वह 'श्रुतज्ञान' में है।

हमारे कई बन्धु और बहिनें श्रुतज्ञान का पठन करते हुए हिचकते हैं और कहते हैं कि—'कहीं उच्चारणादि में अशुद्धि

हो जाय और श्रुतज्ञान की आशातना हो जाय, तो दोष लगता है। इसलिए पढ़ना ही नहीं, जिससे दोष लगने की संभावना तो नहीं रहे। उनका इस प्रकार का विचार ठीक नहीं है। व्यापार में नुकसान लगने की संभावना भी रहती है, फिर भी व्यापारी लोग व्यापार करते ही हैं और उससे उन्हें लाभ होता है, फिर ज्ञान प्राप्ति में ऐसी आशंका कर के वञ्चित रहना तो किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

प्रथम तो सावधानी से पढ़ना चाहिए। यदि सावधानी रखते हुए भी अनायास दोष लग जाय, तो आलोचना से शुद्धि हो सकती है। नहीं करने के बजाय कुछ त्रुटि के साथ भी क्रियात्मक अभ्यास करना लाभप्रद है। मास-तुस मुनि के ज्ञानावरणीय कर्म का उदय जोरदार था। वे सतत् अभ्यास करते रहने पर भी एक पद भी याद नहीं कर सकते थे, किन्तु उनकी वह पढ़ने की रुचि और उद्यम निष्फल नहीं हुए। वे ज्ञानावरणीय कर्म को हटा कर सर्वज्ञ बन गये।

मोक्ष के मुख्य चार कारणों में ज्ञान को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। वह इसलिए कि ज्ञान के बल से हिताहित का बोध होता है। यह बोध श्रद्धा के द्वारा आत्म-परिणत हो कर आचार में भी उतरता है और इससे हित साधन होता है।

यदि सुचारू रूप से ज्ञानाभ्यास हो, तो उसे आभ्यन्तर तप माना जाता है। निर्जरा के १२ भेदों में 'स्वाध्याय' को भी तप माना है। स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है। श्रुत की आराधना से अज्ञान का नाश होता है

और आत्मा क्लेश रहित होती है। नवीन ज्ञान का अभ्यास करते रहने से आत्मा में ज्ञान की पर्याय विकसित हो कर ऐसे संस्कार जमते हैं कि जिससे आत्मा चतुर्गति रूप संसार अटवी में नहीं भटकती। जिस प्रकार धागा सहित सुई गुम नहीं हो सकती, उसी प्रकार सम्यक्ज्ञान से समृद्ध आत्मा, संसार में लुप्त नहीं होती।

संसार में जिस विद्यार्थी का मन सतत अध्ययन में लगा रहता है, वह अपने प्रयत्न का फल, प्रथम श्रेणी में प्रथम पास होने, हजारों-लाखों लोगों से प्रसंशित होने तथा गुरुजनों की प्रीति और पुरस्कार के रूप में प्राप्त करता है। उसी प्रकार सम्यक् ज्ञान में सदैव वृद्धि करते रहने वाले साधक, आत्मिक उत्थान को प्राप्त कर, ज्ञानावरणीयादि कर्मों को क्षय कर के अरिहंत पद को प्राप्त कर लेती है और विश्ववंद्य बन जाती है।

लौकिक में उच्च विद्यालयों में अभ्यास कर के उत्तीर्ण होने वाला विद्यार्थी—'स्नातक' कहाता है, किन्तु जैनदर्शन उसी को 'स्नातक' मानता है, जो केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर ले (भगवती २५–६)। यह स्नातक पद अभिनव ज्ञान ग्रहण करते रहने वाले के लिए सरल हो जाता है।

श्रुत-भक्ति

सतत ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करने के अतिरिक्त श्रुत-भक्ति भी एक उपाय है। ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न श्रद्धायुक्त हो और

साथ ही भक्तिपूर्वक हो, तो विशेष फल देता है। भक्ति रहित—उपेक्षापूर्वक, मात्र विषय को समझने-समझाने के लिए ही हो, तो वह भौतिक फल दे कर रह जाता है।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान। ज्ञान के इन पाँच प्रकारों में एक श्रुतज्ञान ही ऐसा है, जो दूसरों से लिया या दिया जा सकता है और पढ़ या सुन कर प्राप्त किया जाता है। अक्षर-अनक्षर आदि का भेद श्रुतज्ञान में ही है। लिपि का व्यवहार भी श्रुत में ही होता है।

यों तो केवलज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम है। ज्ञान की पूर्णता और पराकाष्ठा केवलज्ञान में ही है, किंतु वह जिन भव्यात्माओं को प्राप्त होता है, वह उन्हीं के लिए उपकारक है। क्योंकि केवलज्ञान न तो किसी को दिया जाता है और न किसी से लिया जाता है। केवलज्ञानी सर्वज्ञ भगवान्, अपने केवलज्ञान से जान कर जो भाव फरमाते हैं, वही भाव श्रोता के लिए श्रुतज्ञान हो जाता है। तात्पर्य यह कि अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान से जान कर जो कुछ कहा जाता है, वह 'वचन-योगश्रुत' होता है—द्रव्य-श्रुत है और श्रोता के लिए वही भाव-श्रुत—श्रुतज्ञान हो जाता है।

श्रुतज्ञान—जिसमें शब्द और अर्थ का विचार हो। संकेत द्वारा मनोगत भाव व्यक्त करना भी श्रुतज्ञान है, जो 'अनक्षर श्रुत' कहाता है। श्रुतज्ञान के १४ भेद श्री नन्दीसूत्र में वर्णित है। ग्रन्थों में इसके अन्य भेद भी हैं।

श्रुत दो प्रकार का होता है। एक तो सम्यक् और

दूसरा मिथ्या। सम्यक् श्रुत-अरिहंत भगवंत सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और सम्पूर्ण दस पूर्व से लगा कर चौदह पूर्व के ज्ञान वाले महात्माओं द्वारा प्ररूपित भाव, 'सम्यक् श्रुत' होता है। आचारांगादि आगम सम्यक्-श्रुत है। दस पूर्व से कम ज्ञान वालों के विचार सम्यक् भी हो सकते हैं और मिथ्या भी। कम ज्ञान वालों में ऐसे भी होते हैं कि जिनके विचारों में उतनी निर्मलता एवं निर्णायकता नहीं होती, जिससे उनका निर्णय एकान्त सम्यक् ही हो। कभी दर्शन-मोहनीय के उदय एवं कुतर्क के निमित्त से अन्यथा—असम्यक् भाव भी व्यक्त हो सकते हैं और ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से भूल भी हो सकती है। सम्पूर्ण दस पूर्वधर और उनसे अधिक ज्ञानियों के ज्ञानावरणीय कर्म का उदय उतना जोरदार नहीं होता, इसलिए उनसे भूल नहीं होती। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण दस पूर्वधर और उनसे अधिक ज्ञानियों का कहा हुआ श्रुत, सम्यक्-श्रुत होता है और उनसे कम ज्ञान वालों का कहा हुआ श्रुत, सम्यक् भी हो सकता है और असम्यक् भी। इनका कहा हुआ या लिखा हुआ श्रुत, स्वतः प्रमाणभूत नहीं होता। यह एकान्त सम्यक् श्रुतधर अथवा केवलज्ञानी के कहे हुए श्रुत के अनुकूल हो, तभी सम्यक् होता है। इसके विपरीत एवं बाधक हो, तो मिथ्या श्रुत होता है।

मिथ्या-श्रुत—दर्शन-मोहनीय कर्म के उदय वाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानियों की स्वच्छन्द मति द्वारा रचित श्रुत, मिथ्या-श्रुत है। जिस श्रुत के द्वारा आत्मा के उदय भाव को प्रोत्सा-

हन मिले, जिसमें अज्ञान, मोह और राग-द्वेष बढ़ने के भाव व्यक्त किये गये हों, जिनके श्रवण, पठन मनन अथवा अवलोकन से हिंसा-मृषादि पाप प्रेरणा मिले, जो सावद्य प्रवृत्तियों का प्रेरक एवं प्रवर्त्तक हो, ऐसा श्रुत 'मिथ्याश्रुत' कहाता है। मिथ्या-श्रुत के प्रति रुचि होना पाप-बन्ध का बढ़ाने वाला है और सम्यक्-श्रुत के प्रति रुचि एवं भक्ति होना पुण्य-बन्ध का कारण है।

मिथ्याश्रुत का अस्तित्व

कई अनसमझ अथवा वञ्चक व्यक्ति कहा करते हैं कि "श्रुत अपने आप में सम्यक् या असम्यक् नहीं होता, किन्तु उसका उपयोग करने वाले श्रोता या पाठक की परिणति ही सम्यक् अथवा मिथ्या होती है। जो स्वयं मिथ्या दृष्टि है, वह सम्यक्-श्रुत को भी मिथ्याश्रुत के रूप में ग्रहण कर लेता है और जो सम्यक्-दृष्टि है, वह मिथ्याश्रुत को भी सम्यक्-श्रुत के रूप में परिणत कर देता है। तात्पर्य यह कि सम्यक् और मिथ्या, यह व्यक्ति की परिणति—योग्यता से सम्बन्धित है, श्रुत विशेष से नहीं।"

उपरोक्त कथन ठीक नहीं है। श्रुत अपने आप में भी सम्यक् और मिथ्या होता है और व्यक्ति भी। श्रुत भी व्यक्ति के विचारों का मूर्त रूप है। श्रुत आया कहाँ से ?

किसी व्यक्ति, वक्ता, लेखक, चित्रकार या शिल्पकार के द्वारा ही न ? फिर उसमें बताये हुए भाव भी व्यक्ति की परिणति के अनुसार सम्यक् या असम्यक् क्यों नहीं होंगे ?

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि संसार में हिंसक यज्ञ प्रवर्त्तक और उसके विधि-विधान बताने वाला श्रुत भी है और "रजस्वला पुष्करं तीर्थं" आदि व्यभिचार वर्धक शास्त्र भी है। काम-सूत्र, कोकशास्त्र, शृंगार-शतक, पाकशास्त्र, कृषिशास्त्र, युद्धशास्त्र आदि अनेक प्रकार के पाप प्रेरक शास्त्र हैं। वैसे चित्र मूर्तियें आदि भी है। सिनेमा के चित्र, गायन, संवाद पुस्तिकाएँ आदि सभी मिथ्या-श्रुत है। क्योंकि इनका उद्गम मिथ्या परिणति युक्त हृदय से हुआ है। फिर वह साहित्य मिथ्या कैसे नहीं है ? यदि साहित्य अपने-आप अच्छा या बुरा नहीं होता, तो सरकार को अश्लील और आपत्तिजनक साहित्य पर अंकुश लगाने की आवश्यकता ही क्या रहती ?

जिनागमों में अनुयोगद्वार सूत्र और नन्दीसूत्र के मूल पाठ में सम्यक्-सूत्र और मिथ्या-श्रुत का अस्तित्व एवं भेद बताया ही है। समवायांग २९ में २९ प्रकार के पापश्रुत के पृथक् रूप बताये हैं तथा सूत्रकृतांग २–२ में भी उल्लेख है। अतएव श्रुत स्वतः सम्यक् और मिथ्या होता है।

यह ठीक है कि सम्यक्-श्रुत मिथ्या-दृष्टि को मिथ्या रूप में परिणत होता है और मिथ्या-श्रुत सम्यग्-दृष्टि को सम्यक् रूप में परिणत हो जाता है। इसका कारण व्यक्ति की योग्यता है। जो मिथ्या-दृष्टि होते हैं, वे सम्यग्-श्रुत को भी मिथ्या

रूप में– उलटे और विपरीत रूप में ग्रहण करते हैं। जैसे कि–

'श्रमण' शब्द का अर्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में श्रम करने वाले, निरवद्य––आत्मोत्थान युक्त प्रवृत्ति करने वाले, संवर युक्त निर्जरा की क्रिया में परिश्रम करने वाले होता है तथा समभाव में प्रवर्त्तन वाले और कषायों एवं विकारों का शमन करने वाले अर्थ में भी श्रमण शब्द का प्रयोग––जिनागमों में हुआ है। इन अर्थों से विपरीत 'परिश्रम कर के अपना भोजन-पान एवं वस्त्रादि निष्पन्न करने वाले'—ऐसा अर्थ, निर्ग्रंथों के लिए कहीं नहीं लिया गया। किन्तु अब ऐसा अर्थ प्रचारित किया गया है। यह सम्यग्-श्रुत के मिथ्या रूप से परिणमन होने का उदाहरण है।

'अन्य लिंग सिद्ध' का अर्थ—'अन्य दर्शन सिद्ध' या चिरकाल तक अन्य-लिंग और तदनुरूप क्रिया करते रह कर सिद्ध होने वाले करना, यह भी मिथ्या परिणमन है।

नमस्कार मन्त्र के पाँच पदों का विपरीत अर्थ, आदि अनेक उदाहरण सम्यक्-श्रुत के, मिथ्या परिणमन के दिये जा सकते हैं। अपवाद के नाम पर बड़े-बड़े अनाचारों का बचाव करना, उन्हें कल्पनीय एवं निर्दोष बताना, लोकोत्तर श्रुत की ओट में लौकिक एवं सावद्य प्रवृत्ति चलाना, इत्यादि अनेक प्रकार से सम्यक्-श्रुत का मिथ्या परिणमन हुआ है।

सम्यक्-श्रुत का मिथ्या परिणमन होने के अनेक उदाहरण सम्यग्दर्शन में अंकित हो चुके हैं। विकारी दृष्टि ने जहाँ भी हो सका, अपनी चाल चलाई। "**पन्ना समिक्खए धम्मं**" वाक्य का भी मनमाना अर्थ किया। तर्क को सिद्धांत की कसौटी बता कर और कुतर्क का सहारा ले कर सिद्धांत के विरुद्ध प्रचार किया। भगवान् ऋषभदेवजी ने 'प्रजापालक' के पद के अनुसार लोगों को जीवन यापन के लिये कलाएँ सिखाई। शास्त्रकार कहते हैं कि--कल्पवृक्ष से युगलिकों की आवश्यकता पूरी नहीं हो रही थी। अकर्मभूमि के भावों की क्षति हो रही थी। बिना कृषि आदि क्रिया किये जीवन-निर्वाह होना कठिन हो गया था। प्रजा के जीवन की इस समस्या को दूर करने के लिये आदि नराधिपति श्री ऋषभदेवजी ने उन्हें जीवन-निर्वाह की कला सिखाई। यह उनके 'राज्याधिपति' 'प्रजा-पालक' एवं 'जनपद-पिता' पद के अनुकूल था। उस समय वे आगारी थे, अनगार नहीं थे; गृहस्थ थे, साधु नहीं थे। जब वे अनगार बन गये, तब उन्होंने ऐसी शिक्षा नहीं दी। केवल प्राप्ति के बाद उपदेश दिया, तो केवल आश्रव त्याग का। किन्तु विकारी दृष्टि वाले लोग, इन सब बातों को भूला कर इसका दुरुपयोग करते हैं। यों तो इस विषय में पहले भी लिखा गया है, किन्तु हमारी दृष्टि में श्रुत के दुरुपयोग की एक नई बात आई है। एक लेखक ने भ० ऋषभदेवजी के विषय में लिखा है कि—

"युगादि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने उस युग की

मानव-जाति को भी कलाएँ सिखाई, वे पशुत्व से मानवत्व की ओर बढ़ने के लिए ही सिखाई थी। उन्होंने उन कलाओं का प्रयोग सत्य के लिए, शिवत्त्व के लिए मानव जाति को बताया था। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र इस बात का साक्षी है। वहां बताया है—**"पयाहियाए उवदिसइ"**

"भ० ऋषभदेव ने प्रजाहित के लिए, **सत्यं** और **शिवं** के लिए कलाओं का उपदेश दिया था, कलाएँ सिखाई थीं। उन्होंने जो भी कलाएँ सिखाई, उसके पीछे **मानवता लाने का सन्देश छिपा था,** उसके पीछे मनुष्यों में पारस्परिक सहयोग और सेवा-भावनाओं की प्रेरणा अन्तर्हित थी। उन कलाओं में जीवन का **महान् सत्य** गर्भित था।" आदि

'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' के इस प्रकरण का उद्देश्य उन मनुष्यों की आजीविका और गार्हस्थ चलाने का था। जीवन के महान् सत्य—परम सत्य = सत्यं शिवम् के उद्देश्य से कला की शिक्षा नहीं दी गई थी। श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र का सम्बन्धित पाठ यह है—

"तएणं..... महारायवासमज्झेवसमाणे लेहाई-आउगणिप्पहाणाउ सउणरुअपज्जवसाणाउ बावत्तरि-कलाउ चोसट्ठिमहिलागुणे सिप्पसयं च कम्माणं तिण्णिवि पयाहियाए उवदिसई, उवदिसित्ता पुत्तसयं रज्जसए अभिसिंचइ" .....

अर्थात् ऋषभदेवजी ने महाराजाधिराज पद पर रहते

हुए लेखन और गणित से लगा कर स्वर्ण-रौप्यसिद्धि पर्यन्त पुरुष की ७२ कलाएँ, स्त्रियों की चौसठ कलाएँ और शिल्प सम्बन्धी कर्म, ये सब प्रजा के हित के लिए बतलाये। उसके बाद अपने सौ पुत्रों को राज्य दे कर सर्व-त्यागी बन गये।

काल परिवर्त्तन के साथ ही क्षेत्र में भी परिवर्त्तन हुआ। अकर्मभूमि की शक्ति क्रमशः क्षीण होती गई। कल्प-वृक्षों की फलदायक शक्ति घटी। मनुष्य में कर्मभूमि योग्य परिणति (भावों) का प्रादुर्भाव हुआ। बिना कृषि-कर्म, शिल्प-कर्म आदि के जीवन-निर्वाह कठिन हो गया। तब उन मनुष्यों के जीवन-निर्वाह के लिए महाराजाधिराज श्री ऋषभदेवजी ने कलाएँ सिखाई। अवसर्पिणि काल के प्रथम प्रजापति का यह कर्त्तव्य था। प्रजा पालन एवं रक्षण उनका उत्तरदायित्व था। इसके बिना जीवन-यापन कठिन था। कर्मभूमि के प्रारंभ काल में सभी प्रथम नरेश ऐसा करते हैं। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो उनके **"प्रजा पालकपन"** को कलंक लगता। वे आदर्श प्रजाप्रति नहीं हो सकते। जब तक उन्होंने राज्य का त्याग नहीं कर दिया, तब तक उनका यह कर्त्तव्य था। प्रत्येक राज्याधिपति का यह साधारण कर्त्तव्य होता है। यह कोई विशेष कर्त्तव्य नहीं था 'महान् सत्य या परम सत्य' नहीं था। सत्यं, शिवं एवं महान् सत्य परम सत्य की ओर तो वे बाद में बढ़े। राज्य त्याग के बाद परम सत्य के साधक हुए। इसे लेखक भुला रहे हैं और कला शिक्षा को ही 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के साथ महान् सत्य की शिक्षा बता रहे हैं।

'महान् सत्य'—परमसत्य एवं शिव है—'मोक्ष'। महान् सत्य का मार्ग है आरंभ-परिग्रह का त्याग कर संसार से विमुख होना। यही परम सत्यं शिवं और सुन्दरता प्राप्त करने की जिनेश्वर सम्मत दृष्टि है, लौकिक कला नहीं। लौकिक कला तो जीवन यापन करने, संसार को सुविधाजनक एवं सुखमय बनाने और बन्ध-परम्परा को बढ़ाने का मार्ग है। यह महान् सत्य नहीं हो सकता। स्त्री-पुरुष की कला के शिक्षण को भगवान् ऋषभदेवजी के चरित्र—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के पाठ से 'महान्-सत्य' एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की शिक्षा कहना सम्यक्-श्रुत का मिथ्या परिणमन है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के टीकाकार ने भी भगवान् द्वारा कला के शिक्षण को न तो सत्यं शिवं बताया न महान् सत्य कहा। उन्होंने—

"जीवनोपायानां मध्ये शिल्पशतं च, विज्ञानशतं च कुंभकारशिल्पादिकं.....प्रजाहिताय लोकोपकारा.....कृषि वाणिज्यादयो बहवो जीवनोपाया स्थापिते"—लिखा है।

श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने "त्रिशष्ठि शलाका पुरुष चरित्र" पर्व १ सर्ग २ में उस समय की परिस्थिति का वर्णन करते हुए जनता के जीवन-निर्वाह के लिए इन कलाओं को सिखाना लिखा है। साथ ही यह भी लिखा कि—ये सब क्रियाएँ **सावद्य है, फिर भी प्रभु ने अपना कर्त्तव्य समझ कर जनता की अनुकम्पा के लिए बताई।**

महाराजाधिराज आदिनाथजी की तो जबाबदारी **थी**

किंतु व्याख्याता मुनिजी ने इन कलाओं को 'सत्यं शिवं सुन्दरं' तथा 'महान्-सत्य' बताई, यह सम्यक्-श्रुत के मिथ्या परिणमन का परिणाम लगता है।

श्रुत और उसके परिणमन के विषय में यहाँ एक चौभंगी उपस्थित की जाती है—

१ **सम्यक्-श्रुत, सम्यक् परिणमन**—आचारांगादि निर्ग्रंथ-प्रवचन का निर्दोष रीति से पठन-पाठन और उसकी यथार्थ समझ। आगमों के भावों को यथातथ्य रूप से हृदयंगम करना। उसकी उसी रूप में प्ररूपणा करना—प्रचार करना।

२ **सम्यक्-श्रुत, मिथ्या परिणमन**—आचारांगादि सम्यक्-श्रुत का मिथ्या अर्थ करना, दुरूपयोग करना। संसार-लक्षी उपयोग करना। हिंसादि आस्रवजन्य प्रवृत्ति के अनुकूल उपयोग करना अर्थात् सम्यक्-श्रुत का सहारा ले कर आरंभजनक एवं सावद्य कार्यों का समर्थन करना। सम्यक्-श्रुत की असम्यक् व्याख्या करना। जिनागमों के प्रति द्वेष या उपेक्षा भाव रखना आदि।

३ **मिथ्या-श्रुत, सम्यक् परिणमन**—मिथ्या-श्रुत के मिथ्या विधानों को हेय मान कर त्याग देना। मिथ्या-श्रुत में की गई असत्य प्ररूपणा या विधान को देख कर सोचना कि—अहा! निर्ग्रंथ-प्रवचन कितना विशुद्ध एवं उत्तमोत्तम है कि इसमें धर्म और उसके स्वरूप तथा आचरण के उत्तमोत्तम विधान किये हुए हैं। ये मिथ्या-श्रुत उसके लक्षांश में भी नहीं

आते। धन्य हो अरिहन्त भगवान्! आपकी वाणी परम सत्य है। एक मात्र निर्ग्रंथ-प्रवचन ही सत्य, परम सत्य एवं विशुद्ध है। यही परमार्थ है, शेष सब अनर्थ है। इस प्रकार मिथ्या श्रुत के अवलोकन से उसमें अरुचि और सम्यक् श्रुत में रुचि बढ़ना, मिथ्या श्रुत का सम्यक् परिणमन है।

जिस प्रकार कांच देख कर जोहरी समझ लेता है कि यह हीरा नहीं है, इसकी कीमत दो-चार पैसे ही हो सकती है। यह मेरे खरीदने योग्य नहीं है। यह कांच बिचारा हीरे की बराबरी क्या करेगा? मैं इसकी असलियत समझता हूँ, इसलिए इसे त्यागनीय मानता हूँ। अच्छा हो कि कोई भोला अनजान इसे देख कर भुलावे में नहीं आ जाय।

अथवा मिथ्या श्रुत का कोई एकाध वाक्य ले कर उसका सम्यक् श्रुत के अनुकूल अर्थ कर के उसके रागियों को समझाया जाय, तो यह भी इस भेद में आ सकता है। किन्तु इसमें विवेक की पूरी आवश्यकता है, अन्यथा अमर्यादित या अघटित महत्व दिया जा कर अनर्थ हो जाने की भी संभावना रहती है।

४ मिथ्या श्रुत मिथ्या परिणमन——यह तो जैनेतर साहित्य और संस्कृति में देखा ही जाता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि श्रुत अपने आप में सम्यक् भी होता है और मिथ्या भी। परिणति भेद से सम्यक् श्रुत मिथ्या रूप से भी परिणत हो जाता है और मिथ्या श्रुत का सम्यक् परिणमन भी हो जाता है। यह व्यक्ति

की योग्यता पर निर्भर है।

सम्यक् श्रुत का उद्गम—सम्यक् श्रुत की मूल उत्पत्ति स्थान अज्ञान, मोह और दर्शन सम्बन्धी समस्त आवरणों से सर्वथा रहित, अनन्त शक्तिशाली वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् ही है। केवलज्ञानी अरिहंत भगवंतों का उपदेश अर्थ रूप में होता है। उसी के आधार से गणधर भगवान् सूत्र की रचना करते हैं। जिनेश्वर भगवंत अर्थ के दाता हैं। उनकी वाणी गम्भीर अर्थ वाली होती है।

पूर्वाचार्य कहते हैं कि जिनेश्वर भगवंत की वाणी से निकले हुए बीज रूपी शब्दों से गणधर महाराज की ज्ञान चेतना विशेष रूप से विकसित होती है। द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, इन तीन प्रकार की अवस्था का संकेत पा कर ही उनके ज्ञानावरणीय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम होता है और वे सम्पूर्ण द्वादशांगी के ज्ञाता बन जाते हैं। वे सम्यक् श्रुत की रचना कर के शिष्यों को श्रुतदान करते हैं।

जिनेश्वर भगवन्त अपने केवलज्ञान-केवलदर्शन में सभी—अनन्तानन्त द्रव्यों और उनकी भूत, वर्त्तमान और भविष्य की समस्त पर्यायों को सम्पूर्ण रूप से जानते-देखते हैं। सम्पूर्ण लोक और अलोक में ऐसी एक भी वस्तु या वस्तु का कोई हिस्सा अथवा उसकी सूक्ष्मतम अवस्था नहीं है, जिसे केवलज्ञानी नहीं जानते हों।

जिनेश्वर भगवन्त जितना जानते हैं, वह सब का सब

वाणी द्वारा कहने योग्य नहीं होता। ज्ञान द्वारा जाने हुए भावों का अनन्तवाँ भाग ही कथन करने योग्य होता है। शेष अनन्त गुण ज्ञान मात्र ज्ञान-गम्य—अनुभव-गम्य ही रहता है। उसे कहने के लिये वाणी समर्थ नहीं होती। वाणी द्वारा वही बात कही जाती है जिसके लिये शाब्दिक प्रवृत्ति हो—शब्दों द्वारा या संकेत से बताई जा सके। जहाँ वाणी मूक हो जाती है, जिसके वर्णन के लिए कोई शब्द ही नहीं मिलता, वह मात्र अनुभव-गम्य ही रहता है। जैसे—किसी दरिद्र को अचानक करोड़ों की सम्पत्ति और राज्याधिकार मिल गया, संसार के सभी सुख उपलब्ध हो गए। उसके हृदय में सुख का सागर हिलोरें ले रहा है, किन्तु वह शब्दों द्वारा कितना बता सकेगा ? यही कि—'मैं आज परम सुखी हूँ। मेरे जैसा सुखी दूसरा कोई नहीं है।' इस प्रकार दो-चार या दस-बीस शब्दों में ही वह अपने सुख का वर्णन कर सकेगा, किन्तु इससे उसके सुखानुभव का पूरा यथातथ्य वर्णन नहीं हो सकेगा। क्योंकि शब्दों के बाहर ऐसी बहुत-सी अवस्था रह गई, जो मात्र अनुभव-गम्य ही हैं। जहाँ वाणी की पहुँच नहीं है। घृत का स्वाद हम जानते है, किन्तु उसे खट्टा, मीठा, तीखा आदि शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में इतने गुण और इतनी पर्यायें रही हुई है कि जिसके सभी गुणों और अवस्थाओं का वर्णन नहीं किया जा सकता। जब एक वस्तु का भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता, तो विश्व के अनन्तानन्त द्रव्यों का वर्णन कैसे हो सकता है ?

हाँ, तो जिनेश्वर भगवंत जितना जानते हैं, उसका अनंतवाँ भाग ही कथन करने योग्य होता है। जितना हिस्सा वाणी-व्यवहार में आ सकता है, वह भी सब का सब नहीं कहा जा सकता। क्योंकि एक मुँह से क्रमशः थोड़ा भाग ही कहा जाता है। श्रोता भी निरन्तर अमुक समय तक ही सुन सकता है। तात्पर्य यह कि वाणी से कथन करने योग्य भावों का भी बहुत थोड़ा अंश ही कहने में आता है।

जिनेश्वर भगवन्त अपनी वाणी द्वारा जितने भाव प्रदर्शित करते हैं, उन्हें गणधर भगवन्त पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकते। अनन्तवाँ भाग ही ग्रहण करते हैं और जितना वे समझते हैं, उतना सूत्रबद्ध नहीं होता। द्वादशांगी की रचना में उसका थोड़ा भाग ही आता है।

यह ठीक है कि गणधर महाराज, भगवान् के कहे हुए समस्त भावों को ग्रहण नहीं कर सकते, किन्तु वे जितना ग्रहण करते हैं, वह भी बहुत ज्यादा होता है। संसार का दूसरा कोई भी व्यक्ति उतना ग्रहण नहीं कर सकता। वे चौदह पूर्व की रचना करते हैं। वे इतने श्रुत की रचना करते हैं कि जिससे श्रुतज्ञान का अन्त ही आ जाय। उन जितनी विशाल श्रुत-रचना मिथ्या-श्रुत की नहीं हो सकती।

शब्दों की अपेक्षा जो व जैसी प्ररूपणा जिनेश्वर भगवन्त करते हैं, जितने भावों को प्रकाशित करते हैं, वही और वैसी ही प्ररूपणा गणधर भगवान् भी करते हैं। उतने भावों को वे भी प्रकाशित करते हैं और जिनेश्वर भगवान् के समान ही

श्रुतज्ञानी महापुरुष भी प्ररूपणा एवं उपदेश करते हैं।

श्रुत-रचना के उपरोक्त विषय पर कोई विद्वान्, उपलब्ध सम्यक् श्रुत को अपूर्ण, त्रुटि युक्त बताते हुए इतर साहित्य से उत्तम अंश ले कर पूर्ति करने का कहते हैं। उनका तर्क है कि भगवान् महावीर द्वारा कहा हुआ और गणधर द्वारा सूत्रबद्ध किया हुआ भाव बहुत थोड़ा है, अपूर्ण है। इसके बाहर अनन्त गुण भाव रहे हुए हैं। जब स्वयं भगवान् महावीर ही अपने जाने हुए समस्त भावों को नहीं कह सके और उसके बाहर भी अनन्त गुण भाव रह गया, तो उपलब्ध श्रुत अपूर्ण ही है। इस अपूर्ण श्रुत को हमें पूर्ण कराना चाहिए और इतर श्रुत के उत्तम अंश को प्रवेश करना चाहिए तथा संशोधन भी करना चाहिये।

उपरोक्त तर्क में, विद्यमान श्रुत के महत्व की उपेक्षा की गई है और मिथ्याश्रुत को महत्व दिया गया है। साथ ही अपने को या वर्त्तमान मनुष्य को गणधर कृत श्रुत में संशोधन करने जितना योग्य माना गया है।

यद्यपि गणधर भगवंतों द्वारा रचित द्वादशांगी, जिनेश्वर भगवंत के ज्ञान के अनन्तवें भाग में हैं और उसमें भी पूर्वों का ज्ञान विच्छिन्न हो गया है तथा उपलब्ध श्रुत भी लिपिबद्ध होते समय बहुत संक्षिप्त हो गया है, फिर भी उसमें द्रव्य, तत्त्व एवं आत्मोत्थान की सभी बातें विद्यमान हैं। आत्मोत्थान की ऐसी कोई विधि या द्रव्य का ऐसा कोई स्वरूप शेष नहीं है जो उपलब्ध श्रुत में नहीं हो कर अन्यत्र हो। हेय, ज्ञेय, उपादेय

का ज्ञान उपलब्ध श्रुत से भली प्रकार हो सकता है। उपलब्ध बिन्दु समान श्रुत में भी ऐसी उत्तमोत्तम सामग्री विद्यमान है कि जिसके सहारे से कोई भी आत्मार्थी अपना आत्म-कल्याण कर सकता है।

इतर साहित्य में जो यत्किंचित् अच्छी बातें दिखाई देती हैं, वे सब सम्यक् श्रुत में उपलब्ध हैं। सम्यक् श्रुत से ही अन्य साहित्य में गई है।

सम्यक् श्रुत में ऐसी सामग्री नहीं है कि जिससे आत्मा की पौद्गलिकता की ओर रुचि बढ़े। भोग-विलास की रुचि को प्रोत्साहन मिले। जिनागम आत्मलक्षी प्रवृत्ति के प्रेरक हैं। सांसारिक प्रवृत्ति की प्रेरणा सम्यक् श्रुत से नहीं मिल सकती। सांसारिकता की ओर से निवृत्ति लेना जिनेश्वरों के उपदेश का उद्देश्य है। इसलिए इसे निवृत्ति मार्ग कहते हैं। यह पौद्गलिक अभिरुचि एवं दृष्टि के त्याग एवं विरति का प्रेरक है। भौतिकवाद का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान होते हुए भी उस ओर प्रेरित करने की दृष्टि निर्ग्रंथ-प्रवचन की सदा से नहीं रही है, क्योंकि पौद्गलिक परिणति बन्धनकारक है, दुःखदायक है। चतुर्गति संसार में भ्रमण कराने वाली है। इसलिए निर्ग्रंथ-प्रवचन न तो पौद्गलिक सिद्धि की विधि बतलाता है और न दूसरे बतलाने वालों को अच्छा ही मानता है। यह आत्मोद्धार का ही प्रवर्तक है। अपने लक्ष्य के अनुसार निर्ग्रंथ-प्रवचन सर्वोत्तम, सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ है।

विद्यमान श्रुत में न्यूनाधिक करने का अधिकार किसी भी

व्यक्ति को नहीं है। यह ठीक है कि प्रतिलिपि करते समय भूल से अशुद्धियाँ हो जाती है। उनका संशोधन प्राचीन प्रतियों के आधार से किया जा सकता है, किन्तु व्यक्ति की इच्छा, रुचि और दृष्टि के अनुसार अथवा लौकिक साहित्य के अनुसार परिवर्तन करना तो श्रुत अभक्ति का ही कारण है। मूल सूत्र अथवा उसके अर्थ और भाव में परिवर्तन करना व लोक-रुचि के अनुसार संगति करने का प्रयत्न करना तो श्रुत की असलियत--मौलिकता को बिगाड़ना है।

जिस प्रकार राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा संस्था के विधान में परिवर्तन करने का अधिकार किसी एक व्यक्ति को नहीं है, उसी प्रकार निर्ग्रंथ-प्रवचन--श्रुत में परिवर्तन करने का अधिकार भी किसी को नहीं है। जो विधान बनाने की शक्ति रखता है, वही उसमें परिवर्तन कर सकता है, दूसरा नहीं। यदि दूसरा कोई परिवर्तन करता है, तो वह उसकी अनधिकार चेष्टा है।

जिनेश्वर भगवन्त के धर्म शासन में निर्विवाद श्रुत उसी महापुरुष का माना गया है, जो कम से कम दस पूर्व का ज्ञान रखता हो। इससे कम ज्ञान वाले की रचना या विधि-विधान तब तक आदरणीय नहीं होता, जब तक कि वह परम्परागत श्रुत के अनुकूल न हो। निर्वाण मार्ग के लक्ष्य से विपरीत नहीं जाता हो एवं संवर-निर्जरा का पोषक हो। दस पूर्वधर से कम ज्ञान वाले के श्रुत में 'भजना' बतलाई गई है, इसका कारण यह कि उसमें अन्यथा होने की संभावना है। इसलिए वह स्वतः

प्रमाण नहीं हो कर परतः प्रमाण है। आज तो एक पूर्व का भी ज्ञान नहीं है और परिवर्तन की आवाज उठाने वाले परिवर्तित दृष्टि वाले हैं। वे मोक्ष तत्व और उसके उपाय रूप निवृत्ति मार्ग के प्रति अविश्वासी बन गए हैं। ऐसे साधु भी देखने-सुनने में आये, जो आगमों के महत्व को गिराते और उनके प्रति जमी हुई श्रद्धा को नष्ट करने की चेष्टा करते हैं। ऐसे व्यक्तियों के हृदय में आगमों के प्रति श्रद्धा नहीं है। अश्रद्धा एवं कुश्रद्धा से वे भरे हुए हैं। जिनके हृदय में सम्यक् श्रुत के प्रति पूर्ण श्रद्धा है और जो सुज्ञ हैं, वे ऐसे व्यक्तियों के बहकावे में नहीं आते।

सुयुक्तियों के साथ ही कुयुक्तियां लगी हुई हैं। जिनके हृदय में श्रुत-भक्ति होती है, वे सुयुक्तियों का उपयोग कर के सम्यक् श्रुत की निर्दोषता एवं आदरणीयता बतलाते हैं, किन्तु जिनकी दृष्टि बदल चुकी, जो अपनी कुश्रद्धा एवं मर्यादाहीनता का बचाव करना चाहते हैं, वे कुयुक्तियों के द्वारा सूत्रों का महत्व घटाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को तर्क का सहारा मिल ही जाता है। फिर सुतागमे ने आगमों में बहुत बड़ा परिवर्तन कर के ऐसे व्यक्तियों को एक शक्ति प्रदान कर दी है। इसके द्वारा वे आगमों के प्रभाव को गिराने का सचोट प्रयत्न कर सकते हैं।

जिस प्रकार अनेक रोगियों में घिर कर, किसी व्यक्ति का स्वस्थ रहना कठिन है, दुराचारियों की टोली में रह कर एकाध सदाचारी का बच कर रहना कठिन है, उसी प्रकार

लौकिक दृष्टियुक्त वातावरण में रह कर, लोकोत्तर साहित्य के प्रति रुचि रखना कठिन है।

जब कर्जदार की नीयत बिगड़ जाती है और वह साहूकार का लेना खोटा करना चाहता है, तो किसी भी प्रकार से वह साहूकार की बहियों और दस्तावेज को खोटा ठहराने का प्रयत्न करता है। कोई उसे बनावटी दस्तावेज कहता है, तो कोई उसका अर्थ पलटने का प्रयत्न करता है और कोई उसमें परिवर्तन होने की युक्ति पेश कर के बचना चाहता है। यही दशा सम्यक् श्रुत का प्रभाव घटाने वालों की भी है।

जब दो-चार वर्ष के लिखे हुए और हस्ताक्षर तथा गवाहियों से युक्त और कुशल वकील द्वारा लिखी हुई दस्तावेजों में भी घोटाले खड़े होते हैं, तो प्राचीन सूत्रों के विषय में तो कहना ही क्या ?

मैंने पहले एक लेख पढ़ा था, जिसमें बताया गया था कि इंग्लेण्ड की अदालतों में वसीयतनामों के विषय में कई मुकद्दमे चले और न्यायाधिकारियों को वसीयतकर्त्ता के अभिप्रायानुसार निर्णय देना कठिन हो गया। उस लेख में यह भी बताया था कि एक जज जिसने वसीयत सम्बन्धी मामलों के अनेक मुकद्दमे सुने और फैसले दिये, उस निष्णात जज ने बड़ी सतर्कता और होशियारी के साथ अपना वसीयतनामा तैयार किया। वह सोचता था कि इसमें किसी प्रकार के विवाद को अवकाश नहीं है। किन्तु उसके मरने के बाद वसीयत सम्बन्धी झगड़ा उठा और निर्णायक के सामने एक

समस्या खड़ी हो गई। यह लेख एक अनुभवी विद्वान् का लिखा हुआ था और इसमें अनेक मुकद्दमों के उदाहरण उपस्थित किये गये थे।

जिस प्रकार हिंसा-अहिंसा, मृषा-अमृषा आदि विरोधी भाव सदा से हैं, उसी प्रकार सम्यक्-श्रुत और मिथ्या-श्रुत भी सदा से है और मिथ्या-श्रुत से वासित व्यक्ति सम्यक्-श्रुत को दूषित करने की चेष्टा करते ही रहते हैं। हमें ऐसे लोगों के चक्कर में नहीं आ कर निर्ग्रंथ-प्रवचन पर अटूट श्रद्धा और पूर्ण भक्ति रखनी चाहिए और जिनेश्वर भगवन्त के, संसार से निवृत्ति और मोक्ष की ओर प्रवृत्ति रूपी मार्ग को दृढ़तापूर्वक अपनाये रहना चाहिए। यह मार्ग सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र और सम्यग् तप मय है। यथार्थ दृष्टिपूर्वक संवर निर्जरा ही जिनेश्वर भगवन्त का बताया हुआ मोक्ष मार्ग है।

कोई-कोई यों भी कहते हैं कि "धर्म तो आचरण में है। इन पोथों में, सूत्रों में और इनके जानपने में धर्म नहीं है। शास्त्र कैसा ही हो, उसमें कोई धर्म नहीं है, धर्म सदाचार में है," आदि।

यह ठीक है कि धर्म सदाचार—उत्तम आचार का पालन करने में है। किन्तु दृष्टि की यथार्थता तो होनी ही चाहिए। इसके अभाव में पाला हुआ आचार, अन्धे की दौड़ या घानी के बैल के समान संसार का चक्कर चालू ही रहता है। बिना ज्ञान का चारित्र अन्धे की दौड़ के समान है।

'ज्ञान पोथियों और शास्त्रों में नहीं है'--यह बात ठीक है, क्योंकि पोथियें और शास्त्र भी जड़ है, किन्तु ये शास्त्र साधन तो है ही। इन पर जिनेश्वरों के सिद्धांत, तत्त्व एवं उपदेश अक्षरों में अंकित हैं। इनसे हमें सत्य मार्ग का दर्शन होता है। जिस प्रकार न्याय का आधार कानून की पुस्तकें हैं। सारे संसार में, विभिन्न राष्ट्रों के राज्य-विधान सम्बन्धी पुस्तकों और न्याय के ग्रन्थों के आधार से चलते हैं, उसी प्रकार धर्म-शासन भी शास्त्रों के आधार पर चलता है।

निर्ग्रंथ-प्रवचन में श्रुत-धर्म और चारित्र धर्म, इस प्रकार धर्म के दो भेद बताये हैं। श्रुत-धर्मपूर्वक ही चारित्र धर्म माना गया है। जहाँ श्रुत-धर्म नहीं, वहाँ चारित्र धर्म की आराधना भी नहीं।

पाँच प्रकार के आचार में ज्ञान और दर्शन को आचार माना है। जो ज्ञानाचार और दर्शनाचार का विराधक होता है, वह चारित्राचार का यथावत् पालन करते हुए भी विराधक ही माना जाता है।

इस प्रकार ज्ञान और दर्शन रूप श्रुत को भी निर्ग्रंथ-प्रवचन में धर्म और धर्माचार स्वीकार किया है। अतएव इनकी आराधना अवश्य ही करनी चाहिए और श्रुत-भक्ति बढ़ा कर अरिहंत पद के अनुकूल परिणति बनानी चाहिए।

अरिहंत पद-प्राप्ति के बीस उपायों में श्रुत-धर्म से सम्बन्धित सात उपाय हैं। यथा--

१- प्रवचन-भक्ति का तीसरा भेद।

२– बहुश्रुत सेवा का छठा भेद (क्योंकि यह पद श्रुत-ज्ञान की विशेषता से सम्पन्न है)।

३– ज्ञान में सतत् उपयोग रखने का आठवाँ भेद।

४– सम्यक्त्व की विशुद्ध आराधना का नौवाँ भेद (सम्यक्त्व भी श्रुत-धर्म से ही सम्बन्धित है)। सम्यक्त्व का ज्ञान के साथ पूर्ण सम्बन्ध है। सम्यक्त्व के होने पर ही, ज्ञान वास्तविक फलदायक होता है।

५– नवीन ज्ञान का अभ्यास करना––अठारहवाँ भेद।

६– श्रुत-भक्ति, प्रस्तुत प्रकरण।

७– प्रवचन-प्रभावना––बीसवाँ भेद। प्रवचन द्वादशांगी को कहते हैं, जो श्रुतज्ञान है। प्रवचन-प्रभावना में सम्पूर्ण जैन धर्म की प्रभावना आ गई, किन्तु यह प्रभावना भी श्रुत-ज्ञान विशिष्ट होती है। अतएव यह भेद भी श्रुतज्ञान से सम्बन्धित है।

इस प्रकार श्रुतज्ञान से सम्बन्धित सात उपाय होने पर भी सभी का अपना पृथक् महत्व है। प्रवचन से सम्बन्धित तीसरा भेद, भक्ति के साधन से आराधने का है, तो अन्तिम भेद प्रभावना के द्वारा आराधने का है। इस प्रकार अन्य भेद भी अपनी-अपनी विशेषता रखता है।

श्रुतज्ञान के विषय में इतने स्थान इसलिए हैं कि धर्म का मूल ही सम्यक् ज्ञान है। इसी पर चारित्र का मनोरम वृक्ष उत्पन्न होता है और इसी पर शाश्वत सुख के अमृतमय अमर फल लगते हैं। अतएव श्रुत-धर्म, मोक्ष के समधुर फल का

मूल है। इसकी विशुद्धि से ही उत्तम फल मिल सकता है। यदि श्रुत रूपी बीज (मूल का कारण) अशुद्ध रहा, तो फल भी अशुद्ध ही मिलेगा। बुरे बीज का अच्छा फल नहीं मिल सकता। इसी प्रकार कुश्रुत--कुज्ञान--मिथ्याज्ञान से सम्यग् चारित्र की निष्पत्ति नहीं हो सकती। यदि श्रुत थोड़ा भी रहे, किन्तु विशुद्ध रहे, तो उसका परिणाम भी विशुद्ध ही होगा। चारित्रिक न्यूनाधिकता या कमी उतनी हानिकारक नहीं होती, जितना ज्ञान का विपैलापन घातक होता है। क्योंकि ज्ञान की विषमता, मौलिक विषमता है। उससे जो क्रिया होगी, वह भी विषमतायुक्त रहेगी। जिसकी जानकारी गलत होगी, उसकी क्रिया भी गलत होगी। यथार्थ ज्ञान और खरी क्रिया से ही सफलता होती है। जिसकी क्रिया तो खरी हो, पर ज्ञान यथार्थ नहीं हो, तो वह अभव्य की तरह क्रिया के जोर से अहमेन्द्र बन सकेगा, परन्तु वहां से गिर कर, घनघोर चक्कर में पड़ जायगा। क्योंकि क्रिया का कारण ही अशुद्ध है। गलत कारण का सही कार्य कैसे होगा ?

यदि ज्ञान यथार्थ रहा, परन्तु क्रिया खरी नहीं रही, तो वह टीका हुआ खरा ज्ञान कालान्तर में खरी क्रिया भी करवाएगा और यथार्थ फल दिला देगा। भगवती सूत्र श. ८ उ. १० में स्पष्ट विधान है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना में एक दूसरे की तरतमता (जघन्यता, मध्यमता और उत्कृष्टता) हो सकती है। चारित्राराधना उसी को होगी, जिसे जघन्य प्रकार की भी ज्ञान एवं दर्शन की आराधना हो।

बिना चारित्र के ज्ञान और दर्शन की आराधना तो हो सकती है, किन्तु बिना ज्ञान और दर्शन के चारित्र की आराधना यथार्थ रूप में नहीं हो सकती। यह है ज्ञान की उपयोगिता का महत्व।

मिथ्या-दृष्टि और अभव्य को चारित्रिक क्रिया की विशिष्ट पालना का अवसर तो अनादि भवचक्र में अनन्त बार भी मिल जाता है, किन्तु ज्ञान-दर्शन की आराधना का अवसर ही नहीं आता। इसीलिए वह उच्च प्रकार की चारित्रिक क्रिया करते हुए भी अनादि-अनन्त संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसीलिए अनन्त ज्ञानी भगवन्तों ने सम्यग् ज्ञान, दर्शन के लिये इतने अधिक स्थान बताये।

ज्ञानी कौन ?

लौकिक दृष्टि से ज्ञानी वही माना जाता है, जो पढ़ा-लिखा हो, किन्तु लोकोत्तर दृष्टि ऐसी नहीं है। सिद्धांत है कि भले ही कोई पढ़ा-लिखा कम हो या नहीं हो, परन्तु संक्षेप से भी आत्मोत्थान के मार्ग को जानता है, या गीतार्थ की अधिनता में रह कर निष्ठापूर्वक आराधना करता है, तो वह सम्यग् ज्ञानी है, पंडित है और आराधक हो सकता है। दूसरी ओर जो खूब पढ़ा-लिखा है, पूर्वों का श्रुत प्राप्त कर के जनता को प्रभावित करने की शक्ति रखता है, किन्तु विकृत मानस युक्त हो, यथार्थ दृष्टि रहित हो, तो वह वाचालता मात्र है। वकील की तरह

बेजवाबदारी वाला ज्ञानी तो 'विषयप्रति-भास' ज्ञानी है। वह सिद्धांत: सम्यग् ज्ञानी नहीं, पर विषैला ज्ञानी है। उसके दर्शन को भी केवल 'दीपक-समकित' कह कर पर-प्रकाशक ही माना है। उस ज्ञान से खुद प्रभावित नहीं होने के कारण उसके ज्ञान को मिथ्या ज्ञान बताया है।

संसार में जितनी पुस्तकें हैं और जितना वचन-योग है—भाषण प्रचार आदि है, सब 'श्रुत' तो हो सकता है, किन्तु सम्यक्-श्रुत नहीं हो सकता। सम्यक्-श्रुत तो वीतराग सर्वज्ञ भगवन्तों की वाणी और तदनुसार अविपरीत कहा या सुना हुआ ज्ञान ही हो सकता है। इसी प्रकार की लिखित सामग्री—आचारांगादि सूत्र सम्यक्-श्रुत साहित्य है।

सम्यक्-श्रुत के नाम पर, भूत और वर्तमान के कई साहित्यकार विद्वानों ने असम्यक् विधान भी किए हैं। कई स्वतन्त्र ग्रन्थों में, कई सूत्रों के भाष्य, टीका, चूर्णि आदि में असम्यक् विधान हुए हैं। वे ऐसे विधान हैं कि जिनसे उपादेय तत्त्व की विराधना होती है। जिन विधानों में सावद्य व्यापार की प्रेरणा हो, जिनसे आरंभ-परिग्रह की प्रवृत्ति होती हो, जिन विधि-विधानों से मूल आगम के निर्दोष विधानों की अवहेलना होती हो और जिनसे निवृत्ति का उद्देश्य बाधित होता हो, वह सम्यक्-श्रुत, साहित्य नहीं हो सकता।

जो साहित्य वीतराग भगवान् के मोक्षमार्ग के अनुकूल हो, जिनागमों के विपरीत नहीं जाते हों, वे ही सम्यक्-श्रुत

है। ऐसे सम्यक्-श्रुत का भक्तिपूर्वक पठन-मनन हो, स्वाध्याय हो, दूसरे भव्य जीवों को श्रुत-भक्ति में जोड़ने की प्रवृत्ति हो, स्वाध्याय का क्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न हो, और इसको दूषित करने वाले, भव्य जीवों को सम्यग्ज्ञान से विमुख करने वाले और सम्यग्ज्ञान के नाम पर मिथ्याज्ञान का प्रचार करने वालों की प्रवृत्ति को यथाशक्ति शुभ भावपूर्वक रोकने का कार्य श्रुत-भक्ति है। इसकी उत्कृष्टता से अरिहंत-पद प्राप्ति का सामर्थ्य प्रकट होता है।

प्रवचन-प्रभावना

अरिहंत पद प्राप्ति का अन्तिम उपाय 'प्रवचन-प्रभावना' है। प्रवचन का अर्थ है—जिनेश्वर भगवन्त का उपदेश, जो आचारांगादि सम्यग् श्रुतमय है और जिनधर्म का धारक पालक ऐसा चतुर्विध संघ भी 'प्रवचन' कहलाता है। समिति-गुप्ति रूप चारित्राचार के पालन में प्रवचन की साकार उत्पत्ति होती है। इसलिए पाँच समिति और तीन गुप्ति को 'प्रवचन की माता'—जन्मदात्री का सम्मान प्राप्त हुआ है। तात्पर्य यह कि जिनेश्वर भगवन्त का उपदेश और तदनुसार जो-जो प्रवृत्ति होती है, वह सब प्रवचन में गर्भित है। इस प्रकार जिन-धर्म ही प्रवचन-मय है और जिन-प्रवचन की प्रभावना करना—दूसरों को जिन-प्रवचन से प्रभावित करना, प्रवचन-प्रभावना है।

प्रवचन की भक्ति करना अरिहंत पद प्राप्ति का तीसरा भेद है और प्रवचन की प्रभावना कर के भव्य जीवों को मोक्ष मार्ग में जोड़ना अरिहंत-पद प्राप्ति का अन्तिम उपाय है। निर्ग्रंथ-प्रवचन पर पूर्ण श्रद्धा करता हुआ भव्य जीव, प्रभावना द्वारा अन्य भव्य जीवों के लिए उत्तम निमित्त खड़ा करता है। उस प्रशस्त निमित्त से आकर्षित हो कर अन्य भव्य जीव भी प्रवचन के आराधक बनते हैं। जिस प्रकार किसी भूले-भटके और उन्मार्ग पर चलने वाले को सही रास्ते पर लगाना, उसे कष्ट से बचा कर सुखी करना माना जाता है, उसी प्रकार संसार रूपी महा भयंकर अटवी में भटकते हुए और घोर कष्ट पाते हुए जीव को परम शान्ति के मार्ग पर लगाना, उसका भाव उपकार है। जिस भव्यात्मा के हृदय में निर्ग्रंथ-प्रवचन के प्रति पूर्ण भक्ति होती है, वही भावपूर्वक प्रवचन-प्रभावना कर सकता है।

पूर्वाचार्यों ने प्रभावना के आठ भेद इस प्रकार बताये हैं—

(१) **प्रवचनी**—प्रवचन का ज्ञाता। द्वादशांग अथवा जिस समय जितने आगम उपलब्ध हों, उनका ज्ञाता। प्रवचन का ज्ञाता, यथावसर प्रवचन का प्रचार कर के प्रभावना कर सकता है। आगम एवं तदनुसारी साहित्य का प्रचार कर के, धार्मिक शिक्षा दे कर, दिला कर और धार्मिक शिक्षा की सुविधा कर के भी प्रवचन-प्रभावना की जा सकती है। यह प्रावचनीक के कर्त्तव्य में है।

(२) **धर्मकथी**—धर्मकथा कह कर श्रोता के मन में धर्म

की प्रतिष्ठा करने वाला। यों तो धर्मकथा कहने वाले अनेक उपदेशक हैं। वे कहलाते तो हैं जैन-धर्मोपदेश, किन्तु उनमें से कई वक्ताओं का उपदेश निर्ग्रंथ-प्रवचन के बाहर का होता है। वे संसार-लक्षी प्रचार करते हैं। ऐसे विकृत दृष्टि वालों द्वारा दिया हुआ भाषण, वास्तविक धर्म-कथा में नहीं गिना जाता। वह 'कर्म-कथा' है।

निर्ग्रंथ-प्रवचन को उचित ढंग से सुना कर श्रोतागण के हृदय में उतारना ही धर्म-कथा है। यह चार प्रकार की होती है। यथा—

१ आक्षेपिनी धर्म-कथा—श्रोतागण की विषय-कषाय एवं संसार की ओर बढ़ती हुई रुचि को मोड़ कर त्याग, विराग की ओर बढ़ाना, यथार्थ दृष्टि प्रदान करना—आक्षेपिनी धर्म-कथा होती है। इसके द्वारा श्रोता के मन में धर्म का आक्षेप—प्रवेश कराया जाता है। यह आक्षेपिनी कथा भी चार प्रकार की होती है।

१ आचार आक्षेपिनी—अहिंसादि तथा ज्ञानादि आचार का उपदेश करना—

२ व्यवहार आक्षेपिनी—दोष रूपी मल को हटाने वाली। आलोचनादि प्रायश्चित्त द्वारा चारित्र की विशुद्धि का वर्णन करते हुए जैनधर्म की निर्दोषता का कथन करना।

३ प्रज्ञप्ति आक्षेपिनी—प्रश्नों के उत्तर एवं शंका का समाधान कर के तत्त्व-श्रद्धा को दृढ़तर बनाने वाली कथा।

४ दृष्टिवाद आक्षेपिनी—नय, निक्षेप आदि से तत्त्व की

सूक्ष्मता समझ कर श्रोतागण की दृष्टि को शुद्ध बनाने वाला प्रवचन।

२ विक्षेपिनी धर्म-कथा——श्रोता को कुमार्ग से हटा कर सुमार्ग पर लगाने वाली, कुश्रद्धा छुड़ा कर सुश्रद्धा प्रदान करने वाली वाणी। इसके भी चार भेद हैं——

१ स्व-सिद्धांत के गुण बताने के बाद पर-सिद्धांत के दोष बताना। इसमें पहले गुणों की ओर आकर्षित किया जाता है। जब श्रोता के हृदय में सद्गुणों के प्रति प्रीति उत्पन्न हो जाय, तब उसके पूर्व गृहीत——पर-सिद्धांत में दोष दिखा कर अरुचि उत्पन्न करने वाली बातें कही जाती है।

२ पहले पर-सिद्धांत के दोष दिखाने के बाद स्व-सिद्धांत के गुण——उत्तमता बताई जाती है।

३ स्व-सिद्धांत की जो बातें पर-सिद्धांत में 'घुणाक्षर न्याय' से आ गई हों, उनसे स्व-सिद्धांत की सिद्धि कर के पर-सिद्धांत के दोष दिखा कर श्रोता की रुचि पलटना।

४ पर-मत में कही हुई असंगत एवं मिथ्या बातों को बता कर उनका स्व-सिद्धांतानुसार निराकरण करना।

ये विक्षेपिनी कथा के ये चार प्रकार हुए।

३ संवेगिनी धर्म-कथा——धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न करने वाला व्याख्यान, संवेगोत्पादक कहा जाता है। इसके भी चार प्रकार हैं——

१ इहलोक संवेगिनी——मनुष्य-शरीर और भोगों की असारता एवं अस्थिरता बता कर धर्म के द्वारा मनुष्य-जन्म सफल

करने की रुचि उत्पन्न करना।

२ परलोक संवेगिनी—नरक-तिर्यंच गति के दुःख तथा देवों के पारस्परिक ईर्षा, भय आदि बता कर विरक्ति उत्पन्न करना और धर्म को परम शान्तिदाता बता कर अनुरक्ति जगाना।

३ स्व-शरीर संवेगिनी—शरीर को अशुचि का घर और अशुचि का जनक आदि बता कर शरीर-मोह छुड़ाना और धर्म-प्रेम जगाना।

४ पर-शरीर संवेगिनी—मुर्दे शरीर की दशा बता कर वैराग्य उत्पन्न करना।

४ निर्वेदिनी धर्मकथा—संसार को विषय-कषाय की खान और जन्म-मरणादि दुःखों का श्रोत बता कर इह-पर-लोक से विरक्ति उत्पन्न करने वाला उपदेश। इसके भी चार भेद इस प्रकार हैं—

१ यहाँ किये हुए चोरी आदि दुष्कर्मों का कटु फल यहीं मिल जाता है, इस बात को समझाते हुए विरक्ति उत्पन्न करना।

२ यहाँ किये हुए पापों का फल नरक-तिर्यंचादि गति में भयंकर दुःख रूप मिलने का वर्णन सुनाना।

३ पूर्वभव में किये हुए पाप-कर्मों के फलस्वरूप रोग, शोक, वियोग, दरिद्र आदि का वर्णन करना।

४ पूर्वभव में किये हुए पापों का फल आगामी भवों में मिलने रूप कथा। जैसे—पूर्वभव के पाप के उदय से कौए,

गिद्ध तथा तन्दुल-मत्स्यादि रूप जन्म पाना और फिर यहाँ नरक भव का बन्ध कर के विशेष दुःखी बनने का वर्णन सुना कर वैराग्य उत्पन्न करना।

पूर्वोक्त प्रकार की कथा, धर्मकथा है। जीव की संसाराभिमुख दृष्टि को पलट कर मोक्षाभिमुख करना, त्याग, विरति एवं काषायिक परिणति को छोड़ने का उपदेश करना—धर्मकथा है। जो धर्मकथा के द्वारा श्री जिनधर्म की प्रभावना करता है, वह 'धर्मकथी' है।

निर्ग्रंथ-प्रवचन का यथार्थ उपदेश वही कर सकता है, जिसके हृदय में निर्ग्रंथप्रवचन के लिए पूर्ण आदर हो और जिसने उसे अच्छी तरह समझ लिया हो। जिसके मन में आदर नहीं होता, वह भी 'विषयप्रतिभास ज्ञान' से वस्तु स्वरूप का सही कथन कर सकता है और जिसके हृदय में आदर तो पूर्ण रूप से है, किन्तु किसी एक विषय में उसकी जानकारी नहीं है, या अधूरी है, तो ऐसे वक्ता द्वारा गलत प्रचार भी हो सकता है।

धर्मकथा का वास्तविक अधिकारी, उसका यथार्थ रूप से ज्ञाता और तदनुरूप पालक ही होता है। जिसकी जानकारी तो ठीक हो, किन्तु आचरण कमजोर हो, वह मध्यम कोटि का धर्मकथी होता है और जिसका आचार गृहस्थोचित हो, जिसके प्रत्याख्यानावरण चोक का उदय हो, ऐसा विरतिरहित साधारण गृहस्थ यदि ज्ञाता और वक्ता हो, तो वह निम्न कोटि का धर्मकथी है।

कई 'प्रवचनी' एवं त्यागी कहे जाने वाले वक्ता, श्रोताओं का मनोरंजन करने की ही दृष्टि अपने भाषणों में रखते हैं, इसलिए वे वैसे कथा-कहानी और गायन आदि को मुख्यता दे कर लोगों को खुश करते हैं। कई लोकरुचि के अनुसार बोलते हैं। लोक-प्रतिष्ठित व्यक्ति, नेता या संस्था के प्रशंसक बन कर 'सग्रंथ प्रवचनी' बन जाते हैं। साधु पद और वेश में रह कर वे जिन-प्रवचन के अनुसार ही बोल सकते हैं। यह सामान्य न्याय-नीति का पालन भी है। किंतु इसके विपरीत बोल कर वे अपने पद और वेश का भी ध्यान नहीं रखते और पद के विरुद्ध प्रचार कर के साधारण न्याय का भी भंग करते हैं।

इस प्रकार निर्ग्रंथ-प्रवचन के वेश में सग्रंथ-प्रवचन चलाने—असली सोने के रूप में, सोने की पालिश वाले पीतल को चलाने में, जैन श्रोताओं की अनभिज्ञता, बुद्धुपन एवं उपेक्षा भी कारणभूत हुई है। यदि समझदार श्रोता, उस उत्पथ जाती हुई वाणी पर अंकुश लगाने का या अरुचि प्रगट करने का प्रयत्न करते, तो आज जैसी विषम स्थिति नहीं होती।

व्याख्याता वर्ग का, श्रोताओं को बहलाने एवं मनोरंजन करने का यह बहुत बुरा प्रभाव पड़ा कि आज स्था. जैन कहने वाला गृहस्थवर्ग, प्रायः तत्वज्ञान से शून्य है। उसके सामने धर्मकथा के नाम पर कर्मकथा चले, तो भी यह उसे धर्मकथा ही मानता है। उसकी परीक्षा की कसौटी 'जनता का मनोरंजन' ही है। उसके सामने जनता की प्रशंसा ही वक्ता के धर्मोपदेश

की सफलता का मापदण्ड है। ऐसे लोगों की वाहवाही वक्ता की बहक को उत्तेजित कर देती है। अजैन श्रोताओं को खुश करने के लिए जैनियों की बुराई भी वे अपने व्याख्यानों में करते हैं और कई बुद्ध, गांधी आदि को महावीर के समकक्ष बिठाने के प्रपञ्च भी करते हैं। निर्ग्रंथ-धर्म के प्रतिनिधि कहा कर रोटी, रोजी और सम्पत्ति का विभाग, स्त्री-स्वातन्त्र्यादि सांसारिक विवादों पर व्याख्यान झाड़ने वाले अपने आपको सुधारक और क्रान्तिकारी कहाने की चिंता में लगे रहते हैं। कोई-कोई तो इतने खतरनाक हो गए हैं कि जैन तत्त्वज्ञान और जिनागमों के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला प्रचार करते भी नहीं शरमाते। ऐसी विषम दशा है आज की। इस प्रकार की कथाएँ 'कर्मकथा' है—धर्मकथा नहीं हैं। धर्मकथा वही है, जिसमें निर्ग्रंथ-प्रवचन का पूर्ण रूप से निर्वाह हो। धर्मकथा के कथक 'प्रवचन-प्रभावक' है, तो निर्ग्रंथ के रूप में 'निर्ग्रंथ-प्रवचन' के नाम से 'कर्मकथा' करने वाले 'निर्ग्रंथ प्रवचन' के लिए घातक हैं। 'प्रभावक' नहीं, 'प्रनाशक' हैं।

सुज्ञ जैन श्रोताओं का कर्त्तव्य है कि वे वास्तविक धर्मकथी का सम्मान करें और कर्मकथी को सहयोग देना बन्द करें। अन्यथा वे भी 'कर्मकथा' के समर्थक ठहरेंगे।

(३) वादी—विरुद्ध मत वाले—कुदर्शनी से वाद कर के उसके मिथ्या मत का खण्डन करना और जिनधर्म का मण्डन करना। इस प्रकार वाद करने वाले को 'वादी' कहा जाता है।

वाद के द्वारा निर्ग्रंथ-प्रवचन की प्रभावना करने से तटस्थ जनता में जिनधर्म का प्रभाव बढ़ता है। जनता आकर्षित हो कर धर्म के सम्मुख होती है और आत्म-कल्याण कर लेती है।

वाद न तो कषाय वृद्धि के निमित्त से हो और न धर्म भावना से रहित ही हो। अपना खुद का महत्व बढ़ाने की इच्छा से किया हुआ वाद, भले ही दूसरे के लिये उपयोगी हो जाय, किन्तु खुद के आत्म-कल्याण में सहायक नहीं होता।

कई वादी ऐसे होते हैं कि अपने वाद की असत्यता को जानते हुए भी वाद के लिये अग्रसर हो जाते हैं और वितंडा-वाद कर के झगड़ा खड़ा कर देते हैं। ऐसे वाद से दूर रहना ही उत्तम है। इस प्रकार के वितंडावादी, मिथ्यादृष्टि होते हैं। मत-बंध में बंधे हुए वे स्व-पर के हिताहित का भान भी भूल जाते हैं।

धर्मवाद वही कर सकता है जो उसके सर्वथा योग्य हो। जिसमें धर्म का तलस्पर्शी ज्ञान हो, जो उद्देश्य के अनुकूल सुहेतु-दृष्टान्त द्वारा विषय का निर्वाह करने में समर्थ हो। ऐसा योग्य व्यक्ति ही वाद कर सकता है। जिसमें पूरी योग्यता नहीं हो, वह वाद करने लगे, तो प्रभावना के स्थान पर 'प्रभ्राजना' करवा देता है।

'वाद में सच्चा आदमी ही विजय प्राप्त करता है'—ऐसी बात नहीं है। कभी झूठा आदमी भी विजयी हो जाता है और सच्चा हार जाता है। कर्म-सिद्धांत के अनुसार जिसके 'पराघात' नाम-कर्म की पुण्य-प्रकृति का उदय होता है, वह

झूठा भी विजयी हो जाता है। 'प्रभावक चरित्र' में उल्लेख है कि जैनाचार्य श्री 'जिनानन्द' को बौद्ध भिक्षु 'बुद्धानन्द' ने वाद में हरा दिया था। इसके बाद 'श्री मल्लवादी सूरी' ने बुद्धानन्द को हरा दिया था। जिसमें वाक्चातुर्य, छल-कला आदि हो और जो विविध प्रकार से विषयान्तर कर के सच्चाई की सीमा से निकल जाने में चतुर हो, वह झूठा भी लोकदृष्टि से विजयी हो सकता है और सीधा-सादा, प्रपञ्च-कला विहीन सच्चा व्यक्ति पराजित हो सकता है। न्यायालयों में विजय प्राप्त करने वाले सभी सच्चे ही होते हैं—ऐसी बात नहीं है। इसीलिए श्री नमिराजर्षि ने कहा है कि—अज्ञान के चलते निरपराधी भी दंडित हो जाते हैं और अपराधी छूट जाते हैं।

समाज में जब विकार बढ़ते हैं, तो उदय भाव से प्रेरित लोग, जैन साधु या श्रावक कहाते हुए भी जैन धर्म के विपरीत आचार-विचारों का प्रचार करते हैं, तब भी विकार हटाने के लिए वाद का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। वाद का प्रसंग वहीं उपस्थित होता है, जहाँ भिन्न विचारधारा होती है।

एकान्त धर्मवाद हुआ था गणधर भगवान् श्री गौतम स्वामी और मुनिराज श्री केशीकुमार श्रमण के बीच। उस वाद में सच्चे-झूठे का तो प्रश्न ही नहीं था। उस वाद का उद्देश्य था अनेकता में ऐक्यता का स्थापन करना। धर्मवाद हुआ था—श्री उदकपेढाल पुत्र अनगार और श्री गौतमस्वामीजी के मध्य ÷।

÷ सूयगड़ांग २-७।

वह विचार-भेद के कारण उत्पन्न हुआ था। फिर भी वह विचार-भेद सम्यक्त्व की सीमा के भीतर ही था। उस विवाद ने भी दो विचारधाराओं का भेद मिटा कर वादी-प्रतिवादी का एकीकरण कर दिया था। वाद किया था 'सोमिल ब्राह्मण' ने भ० महावीर † से और 'शुकदेव सन्यासी' ने 'थावच्चा पुत्र अनगार' से +। दोनों विरुद्ध मत वाले हो कर भी सरल एवं सत्यान्वेशी थे। दोनों ने वाद के द्वारा सत्य समझ कर स्वीकार कर लिया। श्री गांगेय अनगार ने भगवान् महावीर की सर्वज्ञता की परीक्षा करने के लिये वाद किया था ‡। परीक्षा कर लेने के बाद वे भगवान् के अंतेवासी बन गए।

यों तो 'चोक्खा परिव्राजिका' ने भी भगवती मल्ली-कुमारी से वाद किया था, किन्तु वह सत्य ग्रहण नहीं कर सकी, उलटा कर्म-बन्ध बढ़ा लिया। यही हाल 'कमठ तापस' का हुआ। दुर्बुद्धियों, हठाग्रहियों एवं अभिनिवेश मिथ्यात्वियो से वाद करने में उनका तो किसी प्रकार का हित नहीं हो कर अहित ही होता है। किन्तु उस निमित्त से तटस्थ श्रोतागण, वस्तु-स्थिति को समझ कर लाभ उठा सकते हैं।

'संवाद' ज्ञानवृद्धि का कारण है, स्व-पर के लिये हितकारी है। संवाद 'पृच्छना' नामक स्वाध्याय का दूसरा भेद है। संवाद से बुद्धि विकसित हो कर पढ़ा हुआ ज्ञान, आत्म-परिणत हो जाता है। इससे श्रद्धा में दृढ़ता आती है।

---

† भगवती १८–१०। + ज्ञाताधर्म कथा ५।

‡ भगवती ९–३२।

'विवाद' में भजना है। विवाद से ज्ञान प्राप्ति होती भी है और नहीं भी होती, और 'वितंडावाद' तो कर्म-बन्धन का कारण ही होता है। मध्यकाल में जय-पराजय के इतने उग्र और घातक विवाद होते थे कि जिनमें शत्रुता की भावना तीव्र रूप से रहा करती थी। एक-दूसरे के प्राणों के ग्राहक बन जाते थे। ऐसे वादों से अनर्थ भी होते हैं। किन्तु परिस्थितिवश वैसे वाद भी करने पड़े थे। आचार्य श्री हरिभद्रसूरि और अन्य आचार्यों के बौद्धों और वैदिकों के साथ वाद हुए थे। इन वादों से वैरभाव भी बढ़ा था और जैन समाज का रक्षण भी हुआ था।

'वाद' केवल धर्म-तत्त्व के निर्णय के लिए ही हो। धर्मवाद से निखरे हुए और हृदय में उतरे हुए सिद्धांतों से आत्मार्थी-जन धर्म के प्रति आदर भाव रखते हुए उसे जीवन में उतार लेते हैं और मिथ्या मत का त्याग कर के आत्म-कल्याण के मार्ग में अग्रसर हो जाते हैं। इस प्रकार श्री जिन धर्म की महान् प्रभावना होती है। कषाय भाव रहित, धर्म-प्रभावना की दृष्टि से किया हुआ वाद, पुण्य-प्रकृति का बन्ध करता है।

(४) नैमित्तिक— भूत, भविष्य और वर्तमान के लाभालाभ, सुकाल, दुष्काल, संयोग, वियोग, जीवन, मरण आदि अगम्य बातें बता कर लोगों को प्रभावित करने वाला 'नैमित्तिक' कहा जाता है। अगम्य बातों को बताने वाले की ओर लोग

अधिक आकर्षित होते हैं। ज्योतिष, सामुद्रिक आदि के आधार से भविष्य विषयक सत्य एवं हितकर बातें बताने वाले को लोग श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं और उनके अनुगामी भी हो जाते हैं।

जिस प्रकार 'वादी' समर्थ हो, तभी प्रभावक बन सकता है, उसी प्रकार नैमित्तिक भी समर्थ, सत्यवादी, यथार्थ भविष्यवक्ता हो, तभी उसका प्रभाव, अप्रभावित लोगों पर पड़ सकता है। अधकचरे और असत्य भविष्यवक्ता प्रभाव को नष्ट करने वाले होते हैं। ज्योतिष आदि पर लोगों का विश्वास कम हुआ, इसका मुख्य कारण, भविष्य सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान नहीं होना है। भूतकाल में निमित्त कहने वाले ऐसे समर्थ होते थे कि जो सर्वथा यथार्थ कहते थे। यथार्थ ज्ञान के अभाव में नहीं कहना ही ठीक रहता है।

जो यथार्थ निमित्त बतलाता है, वह हजारों को प्रभावित कर सकता है। उसकी प्रशंसा होती है। साथ ही उसके स्वीकृत धर्म की भी प्रशंसा होती है। वह अपनी इस विशिष्ट शक्ति के सहारे धर्म की प्रभावना कर के स्व-पर हित साध सकता है।

(५) तपस्वी— देह-भाव को त्याग कर आत्म-भाव के लक्ष्य से किया गया दुष्कर तप भी प्रभावना का कारण बनता है। कुछ दिन पूर्व कानोड़ में महासती श्री सरदारकुँवरजी का दीर्घकालीन संथारा प्रभावशाली बन गया था। इससे अनेक अजैनों के हृदय आकर्षित हुए थे।

तप, प्रसिद्धि के लिए या दंभपूर्वक नहीं हो कर, मात्र आत्म-कल्याण की दृष्टि से होना चाहिये। इस प्रकार किया हुआ कठिन तप, अपने-आप प्रभावक बन जाता है। वह अपने तप के द्वारा जनता को मूक सन्देश देता है कि--

"मैं अनाहारक बनने के लिए आहार का त्याग करता हूं। अनाहारक दशा ही शाश्वत सुख एवं परम शान्ति की परिपूर्ण अवस्था है। जब तक आहार--भूख पर विजय प्राप्त नहीं की जाती, तब तक जठर की भट्टी रहेगी और जठराग्नि का भाजन शरीर भी रहेगा ही। जिसे आहार की आवश्यकता नहीं रहती और शरीर की दरकार नहीं है, उसे फिर संसार से सरोकार ही क्या ? वह अशरीरी, परमात्मा बन ही जाता है। मैं भी परमात्म-दशा का उम्मीदवार हूँ। मेरा मार्ग आत्म-शुद्धि का है। इसी मार्ग से परमात्म दशा की प्राप्ति होती है।"

कठिन तपस्या करने वाला तपस्वी, अपना खुद का कल्याण तो करता ही है, किन्तु अपने तप के प्रभाव से वह अनेक भव्यात्माओं को मोक्षमार्ग के प्रति प्रभावित करता है।

(६) विद्यावान्-- विविध प्रकार की विद्याओं, भाषाओं के द्वारा विविध भाषा-भाषियों में धर्म का प्रचार करने वाला भी धर्म की प्रभावना करता है। विद्यावान् व्यक्ति विविध प्रकार के हेतु-दृष्टान्तादि से विषय को समझा कर श्रोता या पाठक के हृदय पर प्रभाव डाल सकता है।

विद्या, केवल भाषा-ज्ञान या वक्तृत्व-कला तक ही सीमित

नहीं है। वह मंत्र तन्त्रादि अनेक प्रकार की होती है। विद्या के द्वारा जन-मानस को प्रभावित कर के धर्म का प्रभाव बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार पौद्गलिक स्वार्थ के बिना मात्र धर्म-प्रभावना—भाव-दया से प्रेरित हो कर, विद्या के द्वारा जो धर्म प्रचार करते हैं, वे भी प्रवचन-प्रभावक होते हैं।

(७) सिद्ध—मन्त्र और साधना के बल से अलौकिक सिद्धियाँ (लब्धियां) प्राप्त व्यक्ति का सिद्धि के द्वारा धर्म की प्रभावना करना।

(८) कवि—पद्य अथवा गद्य काव्य के द्वारा जनमानस में धर्म के संस्कार स्थापित करना।

कई व्यक्तियों को इस प्रकार की विशेषताएँ प्राप्त होती हैं, किन्तु उनका सदुपयोग करने वाले विरले ही होते हैं। बहुत-से व्यक्ति इनका उपयोग स्वार्थ साधना में करते हैं। कई आर्थिक स्वार्थ साधना में, तो कई मान-पूजा की प्राप्ति में दुरुपयोग करते हैं। इस दुरुपयोग का भावी परिणाम बड़ा भयंकर होता है। जो आत्मार्थी होते हैं, वे अपनी विलक्षण शक्ति की ओर ध्यान देते ही नहीं। वे उसे दबा कर रखते हैं। जैसे गणधर भगवान् गौतम स्वामीजी अपनी अनेक प्रकार की लब्धियों एवं सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं करते थे। वे अपनी विपुल तेजोलेश्या जैसी महान् शक्ति से भी बेदरकार रहते थे। आत्मार्थी जन इतने सीधे-सादे और सरल होते हैं कि उनके

मन में प्रसिद्धि की तो भावना ही नहीं रहती है। वे अपने स्वाध्याय और ध्यानादि में ही प्रसन्न रहते हैं। यदि कभी उनकी दृष्टि दूसरों की ओर जाती है, तो भी वह धर्मध्यान की सीमा से बाहर नहीं जाती। वे यदि सोचते हैं, तो तात्विक प्रश्न या किसी भव्यात्मा की मुक्ति के विषय में। सांसारिक वादों में वे रस नहीं लेते थे। जब भगवान् के पास कोई भव्यात्मा आती और धर्म श्रवण कर वापिस लौट जाती, तो श्री गौतम स्वामीजी यह जानने का प्रयत्न करते कि--'इस उपासक की आत्मा में धर्म का प्रभाव कितना हुआ है। वे इस विषय में भगवान् से पूछ भी लेते। धर्म-प्रवचन की प्रभावना वे भी चाहते थे। इसीलिए जानने का प्रयत्न करते थे, किन्तु उस समय उन्हें कुछ करने की आवश्यकता नहीं रहती थी, क्योंकि उस समय तीर्थंकर भगवन्त रूपी महान् सूर्य, करोड़ों सूर्यों से भी अधिक तेजस्वी—भाव-सूर्य, स्वयं प्रकाशित हो कर अपना प्रभाव फैला रहा था। इसलिए दूसरों के प्रयत्न की आवश्यकता ही क्या थी? फिर श्रेणिकादि नरेश और आनन्दादि श्रेष्ठ उपासक, जन-समुदाय को जिनेश्वर भगवन्त की ओर आकर्षित करते ही रहते थे। विशेष परिस्थिति में इन्द्र भी समवसरण की रचना कर के प्रभावना किया करते थे।

वर्तमान समय में निर्ग्रंथ-प्रवचन—जैन वाङ्मय का प्रचार करना, उपदेश देना और निर्दोष रीति से धर्म के सम्मुख करना प्रभावना है।

संसार में लोग अनेक प्रकार से प्रभावना करते हैं। कोई ढोल या थाली पीट कर उद्घोषणा कर के आकर्षित करते हैं, तो कोई ध्वनियन्त्र और गाने की रिकार्डों से आकर्षित करते हैं। विज्ञापन छपवा कर वितरण कर के भी प्रचार किया जाता है। कई व्यापारी अपनी वस्तु का, उसके नमूने अमूल्य बाँट कर प्रचार करते हैं। ये सब प्रभावना के तरीके हैं। प्रभावित करने के तरीकों में परिवर्तन भी होता रहता है।

प्रभावना की आवश्यकता, अप्रभावित लोगों के लिए होती है। जो स्वयं जैनी और जिनधर्मानुयायी हैं, उनके साथ तो वात्सल्यता होनी चाहिए। उन्हें धर्म में अधिक उत्साहित करना, डिगते को स्थिर करना, यह प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है। स्व. पू. श्री माधवमुनिजी ने श्रावकों के कर्त्तव्य का वर्णन करते हुए प्रभावना के विषय में बताया है कि—

प्रतपे भान समान महान्, जो जग में जिनधर्म दिपावे।
जो जग में जिनधर्म दिपावे, वो जग में जगनाथ कहावे ॥प्र.॥
जिन-भाषित आगम अनुसार, जिनवर धर्म करे प्रचार।
धारे श्री जिन आणा भार, सो ही जन जैनी कहलावे ॥१॥
प्रभावना अंग अवधार, तन मन धन व्यय करे अपार।
आगम ग्रंथ तनो भण्डार, कर के विद्यालय खुलवावे ॥२॥
उपदेशक जन कर तय्यार, भेजे देश विदेश मँझार।
जहँ पे नहीं साधु पयसार, तहँ पे दया-धर्म दरसावे ॥३॥

उपसंहार

अरिहंत-पद प्राप्ति के उपरोक्त बीस कारणों या इनमें से कुछ कारणों की उत्कृष्टतापूर्वक आराधना करने वाली पवित्रात्मा, तीर्थंकर बनने योग्य शक्ति प्राप्त कर लेती है। इस साधना के चलते एक तो वह अपनी आत्मा के साथ लगे हुए अशुभ कर्मों के मल को दूर करती हुई उज्ज्वल होती है और दूसरी ओर परम शुभ कर्मों का संचय करती रहती है। जब साधना उत्कृष्ट स्थिति पर पहुँचती है--भावना पूर्ण बलवती हो जाती है, उस समय वह इस प्रकार की शक्ति प्राप्त कर लेती है।

कर्मों को सर्वथा क्षय कर के मुक्ति प्राप्त कर लेना या अरिहंत-पद प्राप्ति के योग्य शक्ति प्राप्त करना, यह आत्मा की योग्यता पर निर्भर है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अथवा समवायों की अनुकूलता के अनुसार कार्य होता है।

जीव द्रव्य स्वतः चरम शरीरी हो, तो उसे सभी प्रकार की अनुकूलता प्राप्त हो सकती है और वह अधिकाधिक निर्जरा करता रहता है। वह आयु-कर्म का बन्ध होने योग्य परिणति नहीं होने देता और समस्त कर्मों का क्षय कर के मुक्त ही हो जाता है। किंतु जो आत्मा चरम शरीरी नहीं हो, जिसके पुनर्भव का बन्ध हो चुका हो या होने योग्य हो, जिसके निर्जरा के साथ शुभ बन्ध की मात्रा अधिक हो, उसी में से कोई तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर सकती है।

यद्यपि एक क्षेत्र में, एक तीर्थंकर से अधिक नहीं होते। एक के बाद ही दूसरे होते हैं, तथापि किसी भी समय तीर्थंकर नाम-कर्म के बन्धे हुए जीव, वर्तमान मनुष्यों से अधिक ही होते हैं। उनमें से कोई नरक में और अधिकांश देवलोक में होते हैं। मनुष्यभव में तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर के देवलोक में जाने वाले, जघन्य पल्योपम और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम प्रमाण आयुष्य वाले देव होते हैं। एक पल्योपम भी असंख्य पूर्वों का होता है और सागरोपम का तो कहना ही क्या ? इधर कोई भी तीर्थंकर अधिक से अधिक एक लाख पूर्व तक ही तीर्थंकरपने विचर सकते हैं और विभिन्न क्षेत्रों में कम से कम २० तीर्थंकर तो लोक में सदा विचरते ही रहते हैं। महाविदेह क्षेत्र में तो सदाकाल तीर्थंकर भगवान् रहते हैं। अब सोचिए कि यदि एक तीर्थंकर एक लाख पूर्व तक रहे और उनके बाद दूसरा हो और वे सब एक सागरोपम की स्थिति के देवों में से ही आते रहें, तो वहाँ देवलोक में तीर्थंकर नाम-कर्म के बन्धक देव कितने होने चाहिए ? कम से कम बीस तीर्थंकर तो सदा मौजूद रहते ही हैं। ऐसी स्थिति में तीर्थंकर नाम-कर्म के बन्धक जीव भी अभी देवलोक में उतने मौजूद हैं कि जितने गर्भज मनुष्य भी अभी इस लोक में नहीं है अर्थात् तीर्थंकर नाम-कर्म के बन्धक जीवों की संख्या, सदैव मनुष्यों की संख्या से अधिक ही होती है। हजारों साधु और श्रावक इस उत्कृष्ट पुण्यानुबंधीपुण्य का बन्ध करते रहते हैं।

यह पुण्यानुबंधी पुण्य, बिना भौतिक इच्छा के धर्म की आराधना करने पर होता है। सराग-संयम और संयमासंयम तथा सम्यग् ज्ञान-दर्शन की आराधना करते हुए अपने-आप यह शक्ति प्राप्त होती है।

आत्मार्थीजन, न तो दैविक सुख की प्राप्ति की इच्छा से धर्म की आराधना करते हैं, न तीर्थंकर-पद प्राप्त की इच्छा से ही। वे तो सहज भाव से चारित्र का पालन करते रहते हैं। उनकी देव-गुरु और धर्म के प्रति भक्ति एवं अनुराग रहता है। इसीसे वे देवाराधना, गुरु-भक्ति, वैयावृत्यादि करते हैं और ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप की आराधना करते हैं। इस आराधना के साथ रहा हुआ संवेग--अनुराग और उसमें रही हुई भावों की उत्कृष्टता ही इस प्रकार के बंध को उत्पन्न करती है।

बीस बोलों में से पहला और दूसरा बोल, देव-भक्ति से संबंधित है।

चौथे से लगा कर सातवें भेद तक चार स्थान, गुरु-भक्ति अथवा साधु-सेवा से संबंधित हैं।

३, ८, १८, १९ और २० ये पाँच भेद ज्ञानाराधना के हैं। नौवाँ भेद दर्शन आराधना का है।

चारित्र आराधना में, ११, १२, १५ और १७ वाँ भेद गर्भित होता है और तपाचरण में १०, १३, १४ और १६ वाँ भेद आता है।

यों दर्शन संबंधी एक नौवाँ भेद ही है, किंतु यह सर्व

व्यापक है। इसका संबंध सभी भेदों में रहता है। यदि दर्शन नहीं, तो चौथा गुणस्थान नहीं, और चौथे गुणस्थान से नीचे के जीवों में इसकी योग्यता ही नहीं होती। जहाँ सम्यक्त्व है वहीं ज्ञान, चारित्र, तप, देवाराधना और गुरु-भक्ति कार्य साधक हो सकती है।

अरिहंत-पद प्राप्ति का आदि कारण अरिहंत-भक्ति है। अरिहंत-पद को सर्वप्रथम स्थान दिया गया, यह समझने योग्य है। जिस प्रकार नमस्कार महामन्त्र में अरिहंत-पद पहला है, उसी प्रकार यहाँ भी है। इसका कारण यह है कि अरिहंत भगवंत ही जिनधर्म का मूल है। तीर्थंकर, तीर्थाधिपति एवं प्रवचन प्रवाहक हैं। उनके प्रति दृढ़ श्रद्धान और निश्छल भक्ति ही शेष स्थानों की आराधना करवाती है। यदि अरिहंत भगवान् की शक्ति, आत्मवैभव और अनन्त ज्ञानादि के प्रति श्रद्धा नहीं है, तो सिद्ध-पद पर तो हो ही कैसे ? और शेष पदों की आराधना यदि हो भी तो वह श्रद्धा के बिना "छार पर लीपणुं तेह जाणो" की तरह राख पर– जली हुई भूमि पर, लीपने की तरह व्यर्थ रहती है। अरिहंत भगवान् की निर्दोषता, परम वीतरागता, अनन्त ज्ञानादि गुण एवं यथार्थवादिता पर विश्वास होने के बाद ही उनके बताये हुए मार्ग और उस मार्ग पर चलने वाले निर्ग्रंथों के प्रति श्रद्धा, भक्ति और बहुमान हो सकता है और आराधना भी तभी हो सकती है।

जो वास्तव में जैनी है, जिसकी जैन धर्म में पूरी श्रद्धा है, उसकी अरिहंत भगवंत पर श्रद्धा होती है। वह उन्हें परमपूज्य

एवं एकमात्र आराध्य देव मानता है और उन्हीं के उपदेशानुसार सिद्ध-दशा को मानता एवं श्रद्धा करता है। मुक्ति, मुक्तावस्था का स्वरूप, षट् द्रव्य, नौ तत्त्व आदि की मान्यता जिनोपदेश के अनुसार ही की जाती है।

"जिन पण्णत्तं तत्तं," "केवली पण्णत्तो धम्मो" और "तमेव सच्चं णीसंकं जे जिणेहिं पवेइयं"—इन उद्गारों से सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन के लिए जिनेश्वर भगवन्त पर पूर्ण श्रद्धा होना अनिवार्य है। निर्ग्रंथ-प्रवचन, जिन-धर्म और चतुर्विध तीर्थ का आधार ही अरिहंत भगवान् है। यदि अरिहंत भगवान् पर श्रद्धा नहीं है, तो सिद्ध भगवान् पर तो हो ही कैसे? फिर प्रवचन किस का और कौन-सा? इस प्रकार मूल में रही हुई अश्रद्धा सर्वव्यापी हो जाती है।

जो खरे जैनी हैं, उन्हें अरिहंत भगवंत और उनके धर्म-शासन पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए, सभी स्थानों की अधिकाधिक आराधना करनी चाहिए और उत्थान साधते हुए, आराधक से आराध्य बनना चाहिए। जो निष्काम भाव से श्रद्धापूर्वक धर्म की आराधना करेगा, वह अरिहंत-पद को प्राप्त कर के परम सुख को प्राप्त करेगा।

॥ सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥

卐 संघ के प्रकाशन 卐

	मूल्य		मूल्य
१ मोक्षमार्ग ग्रंथ	६–००	२५ स्तवन तरंगिणी	०–५०
२ भगवती सूत्र भाग १	अप्राप्य	२६ पच्चीस बोल	०–३०
३ भगवती सूत्र भाग २	५–००	२७ लघुदण्डक	०–३०
४ भगवती सूत्र भाग ३	५–००	२८ महादण्डक	०–२०
५ भगवती सूत्र भाग ४	५–००	२९ गुणस्थान स्वरूप	०–२५
६ भगवती सूत्र भाग ५	५–००	३० गति-आगति	०–०७
७ भगवती सूत्र भाग ६	५–००	३१ प्रतिक्रमण सूत्र	०–२०
८ उववाइयसुत्त	२–००	३२ नव तत्त्व	०–६०
९ दशवैकालिक सूत्र	१–२५	३३ रजनीश दर्शन	०–२०
१० अंतगडदशा सूत्र	अप्राप्य	३४ जैन स्वाध्यायमाला	अप्राप्य
११ स्त्री प्रधान धर्म	अप्राप्य	३५ शिविर व्याख्यान	१–३०
१२ सुखविपाक सूत्र	०–२०	३६ मंगल प्रभातिका	०–३०
१३ तेतीस बोल	०–२०	३७ सिद्धस्तुति	०–४०
१४ सामायिक सूत्र	०–१०	३८ समितिगुप्ति	०–२०
१५ सूयगडांग सूत्र	अप्राप्य	३९ जीव धड़ा	०–२०
१६ आलोचना पंचक	०–२०	४० संसार तरणिका	०–५०
१७ नन्दी सूत्र	२–५०	४१ समकित के ६७ बोल	०–२०
१८ सम्यक्त्व विमर्श	१–००	४२ कर्म-प्रकृति	०–१२
१९ समर्थ समाधान भा. १	अप्राप्य	४३ उत्तराध्ययन सूत्र	अप्राप्य
२० समर्थ समाधान भा. २	३–००		
२१ जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १			१–२५
२२ जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग २			अप्राप्य
२३ एक सौ दो बोल का बासठिया			०–०७
२४ विनयचंद चौबीसी और शांति प्रकाश			०–२५

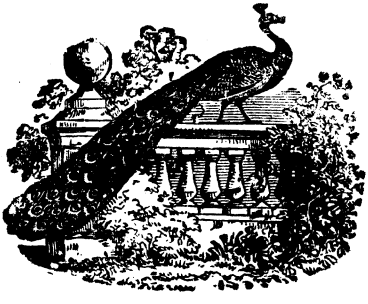

अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ
सैलाना (म.प्र.)